वक्तव्य

इस गुलेरी-ग्रंथ का सामग्री-संग्रह तथा व्यवस्थित योजना के अनुसार इसका संपादन अर्थात् विषय-विभाजन और आवश्यक टिप्पणी-लेखन श्री कृष्णानंद, एम० ए०, संपादक ना० प्र० पत्रिका, प्रिंसिपल डी० ए० वी० कालेज, काशी ने किया है। इसके लिये सभा उन्हें हृदय से धन्यवाद देती है।

काशी
१५ भाद्रपद, २०००

रामचंद्र वर्मा
प्रधान मंत्री
ना० प्र० सभा।

स्व० श्री चद्रधर शर्मा गुलेरी

प्रस्तावना

अमर कृती पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी की समस्त हिंदी कृतियों का संग्रह और उनका चरित गुलेरी-ग्रंथ के रूप में उपस्थित कर उस स्वर्गीय आत्मा को श्रद्धामय कृतज्ञता तथा हिंदी वाङ्मय को एक आवश्यक सेवा अर्पित करने के शुभ संकल्प की यह आंशिक पूर्ति प्रस्तुत है।

गुलेरी जी अनोखे प्रतिभामय पुरुष थे। काँगड़ा प्रांत (पंजाब) के गुलेर स्थान से आकर जयपुर मे प्रतिष्ठित, काशी की संस्कृत-विद्या के महाधनी पंडित शिवराम शास्त्री से स० १९४० में जन्म पाकर ये बड़े होनहार बिरवा के समान ही बढ़े थे। नौ-दस वर्ष के वय में ही ये संस्कृत-भाषण करने लगे थे। सन् १८९९ में, १६ वर्ष के वय में, ये प्रयाग-विश्वविद्यालय की एंट्रेंस परीक्षा में बैठे और सर्वप्रथम हुए। सन् १९०२ में, १९ वर्ष के वय में ही, इन्होंने जयपुर के मानमंदिर के जीर्णोद्धार में दो विदेशी विशेषज्ञों की सहायता की और सम्राट्सिद्धांत जैसे ज्योतिषग्रंथ का सफल अनुवाद किया तथा Jaipur Observatory and its builder नामक विशाल ग्रंथ का एक विशेषज्ञ के साथ निर्माण किया। सन् १९०३ में प्रयाग-विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा

में ये सर्वप्रथम हुए। आगे दर्शनशास्त्र में एम० ए० करने का विचार परिस्थितिवश पूरा न कर सके। परतु निजी अध्ययन-अनुशीलन में इसी अवस्था में ये जो पूरा कर सके वह उससे कहीं विशिष्ट हुआ। वैदिक, सस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिंदी, मराठी, बँगला, अँगरेजी के असाधारण पांडित्य के साथ लेटिन, फ्रेंच एवं जर्मन का अभ्यास भी इन्होंने संपादित किया। सन् १९०४ में श्री जयपुर दरबार के आदेश से खेतड़ी के राजा जयसिंह जी बहादुर के अभिभावक तथा शिक्षक होकर इन्हें मेयो कालेज, अजमेर जाना पड़ा। सन् १९०७ में ये जयपुर राज्य के समस्त सामंतो की शिक्षा के अध्यक्ष हुए। सन् १९१६ में ये 'जयपुर हाउस' के 'मोतमिद' पद के अधिकारी हुए और साथ ही मेयो कालेज में संस्कृत के प्रधानाध्यापक हुए। इस बीच अपनी व्यापक विद्वत्ता के द्वारा इन्होंने भाषा-विज्ञान, लिपि-विज्ञान, ज्योतिष, साहित्य, दर्शन तथा प्राचीन भारतीय इतिहास-पुरातत्त्व की ऐसी विज्ञता सिद्ध की और अपने कितने ही लेखों में इसे ऐसा प्रमाणित किया कि देश मे इन विषयो के धुरीणों मे ये मान्य हुए। सन् १९२० में महामना मालवीय जी ने इन्हें काशी हिंदू-विश्वविद्यालय मे प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति विभाग के मनींद्रचंद्र नंदी स्कालर और साथ ही प्राच्य विद्या और धर्म कालेज के प्रधान के पद पर प्रतिष्ठित किया। परंतु भारतीय विद्वत्ता तथा हिंदी का दुर्भाग्य कि सन् १९२२ में, ३९ वर्ष की अल्प आयु मे ही, सहसा ये अनोखे प्रतिभामय पुरुष दिवंगत हो गए।

गुलेरीजी की कृतियाँ संस्कृत, हिंदी और अँगरेजी इन तीनों में हैं, परंतु इनकी अधिकांश कृतियाँ हिंदी में ही हैं। नागरी-हिंदी के प्रति इन्हें सहज ममता थी और इसकी उन्नति के लिये इन्होंने जो किया है वह बहुत ही उत्कृष्ट और विशिष्ट है। सन् १९०० में ही जयपुर मे श्री जैन वैद्य जी के साथ इन्होंने नागरीभवन की स्थापना की थी और कई वर्षों तक स्वयं 'समालोचक' पत्र का संपादन किया था जिसकी एक विशिष्ट मर्यादा थी। अपने समय की और पत्र-पत्रिकाओं में विभिन्न विषयों पर ये लिखते ही रहते थे। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के ये बड़े उत्साही सदस्य और कुछ काल तक अधिकारी भी रहे। नागरीप्रचारिणी पत्रिका के संपादकों में इनका विशिष्ट स्थान था, कितने ही छोटे-बडे विचारोत्तेजक लेखों से उसे ये मडित करते रहे। इनके प्रभाव से ही शाहपुरा के राजाधिराज श्री उम्मेदसिंह जी ने अपनी स्वर्गीया पत्नी सूर्यकुमारी जी की स्मृति में एक पुस्तकमाला चलाने के लिये सभा को एक पुष्कल निधि दान की। उस पुस्तक-माला के ये ही सपादक रहे और इनकी समस्त हिंदी कृतियों का संग्रह और इनका चरित उसी पुस्तकमाला के एक विशेष पुष्प के रूप में प्रकाशित हो रहा है।

गुलेरी जी की हिंदी सेवा की उत्कृष्टता और विशिष्टता इनकी कृतियों की पुष्टता तथा विविधता के साथ विषयों की तत्त्वज्ञता और शैली की विशेषता में है। पौरस्त्य-पाश्चात्य, प्राचीन-अर्वाचीन साहित्य तथा विज्ञान, रचना एवं आलोचना के ये

समान अधिकारी थे और इन सब में सजीव महावरेदारी तथा संकेतमयता एव वक्रता तथा व्यंजना की इनकी मार्मिक शैली सिद्ध थी। एक दो कृतियो से ही अमर आदर्श स्थापित कर देनेवाले ये अमर और आदर्श कृती हो गए हैं। 'उसने कहा था' की अमरता तो सर्वप्रसिद्ध है। इनकी और कृतियो, विशेषतः निबधो की अमरता अब इस संग्रह से वैसी ही प्रसिद्ध होगी।

गुलेरी जी की समस्त हिंदी कृतियों में चार कोटियाँ लक्ष्य हैं—इतिहास, भाषा, रचना और आलोचना। इस ग्रंथ में इनकी कृतियों का संग्रह इन कोटियों के अनुसार चार भागों में संपादित है। पहले दो भाग वैज्ञानिक हैं और पिछले दो साहित्यिक। अतः यह संग्रह दो खडों में विभाजित है। पहले खड में स्थित पहले और दूसरे भागो मे छोटे-बड़े प्रबध तथा टिप्पणियाँ हैं, दूसरे खड मे स्थित तीसरे भाग मे कुछ स्फुट कविताएँ, वस्तु प्रधान एव भाव-प्रधान निबध तथा कहानियाँ हैं और चौथे भाग में आलोचनात्मक निबंध तथा टिप्पणियाँ हैं। गुलेरी जी का विस्तृत चरित एक पृथक् अर्थात् तीसरे खड मे उपस्थित होगा। इस प्रकार तीन खडों में यह गुलेरी-ग्रंथ प्रस्तुत करने की योजना और सकल्प है। इसकी पूर्ति मे अनेक बाधाओ के कारण बहुत विलंब हुआ है। अभी परिस्थितिवश पहले खड का पहला भाग ही प्रस्तुत है, परंतु अब आशा है कि सकल्पित क्रम के अनुसार पूरा ग्रंथ प्रस्तुत करने मे बहुत विलंब न होगा।

गुलेरी जी की उक्त कृतियाँ बहुत कुछ पत्र-पत्रिकाओ —नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, सरस्वती, समालोचक, मर्यादा, प्रतिभा आदि— में प्रकाशित हैं और कुछ अप्रकाशित। इस ग्रंथ में इनकी प्रकाशित-अप्रकाशित समस्त हिंदी कृतियो के संग्रह और इनके विस्तृत चरित की सामग्री के सकलन का यथासंभव प्रयत्न हुआ है। जहाँ-जहाँ से यह संग्रह और सकलन हुआ है उन उन स्थानों का आभार स्वीकृत है। आशा है कि यह ग्रंथ यथेष्ट पूर्ण ही सिद्ध होगा।

यह ग्रंथ जिनके कृपापूर्ण प्रोत्साहन, प्रवर्तन, अनुग्रह और सद्भाव से संपादित हो सका है और यह पहला भाग प्रकाशित हो रहा है उनका कृतज्ञता-पूर्ण स्मरण अब मेरा सुखद कर्त्तव्य है। स्वर्गीय बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी ने मुझे इस आवश्यक कार्य के लिये प्रोत्साहित किया, डा० श्यामसुंदरदास जी ने अपने पास संकलित सामग्री देकर मुझे इसमें प्रवृत्त किया, इन दो महानुभावो की कृपा से ही नागरीप्रचारिणी सभा ने मुझे इसका संपादन सौंपने का अनुग्रह किया और स्वर्गीय गुलेरी जी के सुपुत्र पं० योगेश्वर जी गुलेरी और पं० शक्तिधर जी गुलेरी एम० ए० ने इसमें अपेक्षित सहमति तथा सहयोग का सद्भाव प्रदान किया है। इन सभी महानुभावों को तथा सभा को मेरा सादर धन्यवाद अर्पित है। और अब यह आशंसा है कि इस ग्रंथ के रूप में अमर कृती गुलेरी जी को श्रद्धामय कृतज्ञता और हिंदी वाङ्मय को एक आवश्यक सेवा अर्पित करने का यह शुभ

समान अधिकारी थे और इन सब में सजीव महावरेदारी तथा सकेतमयता एव वक्रता तथा व्यंजना की इनकी मार्मिक शैली सिद्ध थी। एक-दो कृतियो से ही अमर आदर्श स्थापित कर देनेवाले ये अमर और आदर्श कृती हो गए हैं। 'उसने कहा था' की अमरता तो सर्वप्रसिद्ध है। इनकी और कृतियो, विशेषतः निबधों की अमरता अब इस संग्रह से वैसी ही प्रसिद्ध होगी।

गुलेरी जी की समस्त हिंदी कृतियों में चार कोटियाँ लक्ष्य हैं—इतिहास, भाषा, रचना और आलोचना। इस ग्रंथ में इनकी कृतियों का सग्रह इन कोटियों के अनुसार चार भागों में संपादित है। पहले दो भाग वैज्ञानिक हैं और पिछले दो साहित्यिक। अत· यह संग्रह दो खडों में विभाजित है। पहले खड में स्थित पहले और दूसरे भागों में छोटे-बड़े प्रबध तथा टिप्पणियाँ हैं, दूसरे खड में स्थित तीसरे भाग में कुछ स्फुट कविताएँ, वस्तु प्रधान एव भाव-प्रधान निबध तथा कहानियाँ हैं और चौथे भाग में आलोचनात्मक निबंध तथा टिप्पणियाँ हैं। गुलेरी जी का विस्तृत चरित एक पृथक् अर्थात् तीसरे खड में उपस्थित होगा। इस प्रकार तीन खडों में यह गुलेरी-ग्रंथ प्रस्तुत करने की योजना और सकल्प है। इसकी पूर्ति मे अनेक बाधाओं के कारण बहुत विलंब हुआ है। अभी परिस्थितिवश पहले खंड का पहला भाग ही प्रस्तुत है, परंतु अब आशा है कि संकल्पित क्रम के अनुसार पूरा ग्रंथ प्रस्तुत करने में बहुत विलब न होगा।

गुलेरी जी की उक्त कृतियाँ बहुत कुछ पत्र-पत्रिकाओं—नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, सरस्वती, समालोचक, मर्यादा, प्रतिभा आदि—में प्रकाशित हैं और कुछ अप्रकाशित। इस ग्रंथ में इनकी प्रकाशित-अप्रकाशित समस्त हिंदी कृतियों के संग्रह और इनके विस्तृत चरित की सामग्री के संकलन का यथासंभव प्रयत्न हुआ है। जहाँ-जहाँ से यह संग्रह और संकलन हुआ है उन उन स्थानों का आभार स्वीकृत है। आशा है कि यह ग्रंथ यथेष्ट पूर्ण ही सिद्ध होगा।

यह ग्रंथ जिनके कृपापूर्ण प्रोत्साहन, प्रवर्तन, अनुग्रह और सद्भाव से संपादित हो सका है और यह पहला भाग प्रकाशित हो रहा है उनका कृतज्ञता-पूर्ण स्मरण अब मेरा सुखद कर्त्तव्य है। स्वर्गीय बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी ने मुझे इस आवश्यक कार्य के लिये प्रोत्साहित किया, डा० श्यामसुंदरदास जी ने अपने पास संकलित सामग्री देकर मुझे इसमें प्रवृत्त किया, इन दो महानुभावों की कृपा से ही नागरीप्रचारिणी सभा ने मुझे इसका संपादन सौंपने का अनुग्रह किया और स्वर्गीय गुलेरी जी के सुपुत्र पं० योगेश्वर जी गुलेरी और पं० शक्तिधर जी गुलेरी एम० ए० ने इसमें अपेक्षित सहमति तथा सहयोग का सद्भाव प्रदान किया है। इन सभी महानुभावों को तथा सभा को मेरा सादर धन्यवाद अर्पित है। और अब यह आशंसा है कि इस ग्रंथ के रूप में अमर कृती गुलेरी जी को श्रद्धामय कृतज्ञता और हिंदी वाङ्मय को एक आवश्यक सेवा अर्पित करने का यह शुभ

संकल्प और उसकी यह आंशिक पूर्ति इन महानुभावों तथा सभा के साथ राजाधिराज श्री उम्मेदसिंह जी, स्वर्गीया सूर्यकुमारी जी की छोटी भगिनी प्रतापगढ की राजमाता श्रीमती चंद्रकुमारी जी और सहृदय पाठकों के प्रसाद और आह्लाद का विषय हो।

श्रीकृष्णजन्माष्टमी,
२००० वि०।

कृष्णानंद

विषय-सूची

पहला भाग—इतिहास

पहला भाग—इतिहास

पृथु वैन्य का अभिषेक

पृथुर्ह वै वैन्यो मनुष्याणां प्रथमोऽभिषिषिचे। (शतपथ ब्राह्मण)

वेन का पुत्र पृथु (जिसके पीछे आज तक पृथिवी या पृथ्वी कहलाती है) ऊपर लिखी हुई श्रुति के अनुसार मनुष्यों में पहले-पहल ही अभिषिक्त हुआ। उस समय की प्राचीनता का अनुमान महाभारत के इस वर्णन से हो सकता है कि उस

प्राचीन समय, कृतयुग में

धरती सब विषम थी, जैसी मन्वंतरो में सृष्टि के पीछे हुआ करती है। पृथिवी बिना खेती किए पकनेवाले पदार्थ दिया करती थी, पेड़ों के खोते खोते में मधु (शहद) मिलता था और गौएँ जितना चाहते उतना दूध दिया करतीं। सुखस्पर्श, सुखदायक वृक्ष थे जिनके वस्त्रों (वल्कलों और पत्तों) को पहन कर प्रजा उनमे ही सो रहती। अमृत से मीठे फल और मधु यही उसका आहार था और वह कभी भूखी नहीं रहती। मनुष्य नीरोग, सर्वसिद्धार्थ, किसी से भी न डरते, यथेच्छ वृक्षो मे और गुफाओ मे रहा करते। न राष्ट्र बँटे हुए थे न पुर, प्रजा भी उस समय मौज के अनुसार प्रसन्न थी। उस पूर्व निसर्ग मे विषम भूतल मे पुरों और ग्रामों का विभाग न था, न खेती होती थी न गोरक्षा, न व्यापार न लेन-देन।

इन सब बातो का आरभ वेन के पुत्र से लेकर है। न राज्य था न राजा, न दड न दड देनेवाला, सब लोग आपस मे एक दूसरे की धर्म से ही रक्षा करते। यो करते करते उनमे 'दीनता' आई, उससे उनमें 'मोह' आ घुसा, उससे 'बुद्धि' मारी गई, और उनका 'धर्म' नष्ट हो गया, तब वे 'लोभ' के वश हुए और जब अप्राप्त चीजो को लेने लगे तब उनमे 'काम' आ पहुँचा। जब वे कामवश हो गए तब 'राग' ने धर दबाया। इससे वे कार्य-अकार्य पहचानना भूल गए। यों जब नरलोक में विप्लव मच गया तब देवता भी यज्ञभाग न पाने से क्लेशित हुए और उनकी प्रार्थना पर 'ब्रह्मा' ने अपनी बुद्धि से

सौ हजार अध्यायों में एक नीतिशास्त्र

बनाया जिसमे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब का पूरा वर्णन है। यह उनने 'शकर' को सिखाया, उनने उसका संक्षेप कर के 'वैशालाक्ष' शास्त्र बनाया। उस दस हजार अध्यायों के शास्त्र को 'इद्र' ने सीख कर पॉच हजार अध्यायो का 'बाहुदतक' शास्त्र चलाया। उसका सक्षेप करके 'बृहस्पति' ने तीन हजार अध्यायो का 'बार्हस्पत्य' और 'काव्य' (शुक्र) ने उसे हजार ही अध्यायो का बना दिया।

जब यो नियम और धर्म नियत हो गए तब उनको चलाने के लिये देवताओ ने 'विष्णु' से पूछा कि "मर्त्यों मे एक जो श्रेष्ठतम होने योग्य है उसे बनाइए"। वहाँ से 'तैजस विरजा' मन से ही उत्पन्न किया गया, किंतु उसने राज्य करना नही चाहा, उसकी

इच्छा संन्यास मे रही। उसका पुत्र 'कीर्त्तिमान्', और उसका 'कर्दम' ये भी मनुष्यों से बढ़ कर तपस्वी हुए। उसके पुत्र 'अनंग' ने दडनीति जान कर प्रजापालन किया किंतु उसका पुत्र नीतिमान् 'अतिवल' महाराज्य पाकर इंद्रियवश हो गया। उसकी स्त्री 'सुनीथा' थी जिससे 'वेन' उत्पन्न हुआ।

यं प्रजासु विधर्माण रागद्वेषवशानुगम्।
मन्त्रपूतै: कुशैर्जघ्नु ऋषयो ब्रह्मवादिन.॥

मनुस्मृति कहती है कि उसने वर्णसंकरता चलाई। भागवत कहता है कि उसने ब्राह्मणों से कहा कि मैं ही ईश्वर हूँ, मेरे लिये यज्ञ करो, जैसा मैं कहूँ वैसा ही पुण्य पाप है। जो हो, प्रजा मे विधर्मी, रागद्वेष के वश उस राजा को ब्रह्मवादी ऋषियो ने कुशो से मार मार कर मार डाला।

अब ऋषियो ने उसकी जाँघ को मथा। उसमें से एक विकृत, अशुद्ध, ठिगना, जले हुए कुंदे का सा, लाल आँखों और काले केशोवाला पुरुष निकला जिसे ऋषियों ने कहा कि "निषीद=बैठ जा"। उससे ये निषाद भील म्लेच्छ वनचारी उत्पन्न हुए हैं। यो गर्हित नीचे के भाग को छाँट निकाल ऋषियो ने उस मरे हुए राजा के दहने हाथ को मथन किया। अब हम यह नहीं कह सकते कि पुराणों में यह रूपक है वा सच्चा वर्णन। यदि रूपक है तो इसका अर्थ आजकल की भाषा में यह है कि ऋषियो ने नीच प्रवृत्ति के लोगो को निकाल बाहर किया और मृत-राजा की बाँह अर्थात् बराबर के मनुष्यो में से मथन (छानबीन, चुनाव) करके एक इंद्र

के समान रूपवान् पुरुष निकाला। कवच पहने, तलवार बाँधे, धनुष-बाण धारे, वेद-वेदांग धनुर्वेद का पारगामी वह नरोत्तम था। सारी दडनीति उसमें आश्रित थी। वह

वैन्य = वेन का पुत्र

महर्षियो को हाथ जोड कर बोला "(आपके मथन से) मेरे मे धर्म-अर्थ को देखनेवाली सूक्ष्म बुद्धि उत्पन्न हुई है, इससे मैं क्या करूँ, यह मुझे तत्त्व से समझाइए। जो अर्थ समेत (निष्प्रयोजन नहीं) कार्य आप मुझे कहेगे वह करूँगा। इसमे कोई विचार मत कीजिए।" तब उसे देव और ऋषियो ने कहा कि—

"नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्कः समाचर।"

"जहाँ धर्म नियत है वह काम नि शंक होकर कीजिए। प्रिय अप्रिय का विचार छोडकर सब जतुओं मे समान होकर काम, क्रोध लोभ और मान को दूर वहाकर, लोक मे जो कोई मनुष्य धर्म से विचलित हो धर्म को सदा विचारते हुए आपको उसे अपने हाथो से पकड़ना चाहिए।"

प्रतिज्ञा

"प्रतिज्ञा चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्॥
यश्चात्र धर्म इत्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रय.।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन।
लोकं च सकरात्कृत्स्नं त्रातास्मीति परंतप॥"

"मन, कर्म और वाणी से इस प्रतिज्ञा को बार बार स्वीकार कीजिए (शब्दार्थ—आरूढ़ होइए) कि भूमि और ब्रह्म को मैं पालन करूँगा। इस (धर्मनीति ग्रंथ मे) दण्डनीति के आश्रित जो धर्म इस नाम से कहा गया है उसे निःशंक करूँगा, कभी अपने वश होकर काम नहीं करूँगा और समस्त लोक को वर्णसंकरता से बचाऊँगा।" इसके उत्तर में वैन्य ने कहा कि "यदि ब्राह्मण मेरे सहायक हो तो ऐसा ही हो।" इस पर ऋषियो ने प्रसन्न होकर उसका अभिषेक किया। यों विष्णु से आठवें उस राजा के सारस्वत ऋषि प्रभृति पुरोहित हुए और सूत और मागधो ने उसकी प्रशंसा की। उसके अभिषेक करनेवालो ने सोचा था कि "यह हम सब को फैलाएगा" इससे उसका नाम फैलानेवाला = 'पृथु' हुआ, "यह हम सब को क्षतो से बचाएगा" इससे 'क्षत्रिय' हुआ। उस पृथु वैन्य को देखकर प्रजागण बोल उठे कि "हम रँज् गए, रीझ गए" इसी अनुराग से उसका नाम 'राजा' हुआ।

पृथिवी को समतल करना और दुहना

अब सबने उससे कहा कि "आप सम्राट् है, क्षत्रिय है, राजा है, हमारे पिता हैं रक्षक हैं, महाराज। आप प्रभु हुए, हमे ईप्सित वर दीजिए जिससे हम सदा तृप्त होकर सुखपूर्वक बरतते रहे।" पृथु ने धरती को धनुष-बाण लेकर धर दबाया। वह गौरूप धारण करके कहीं शरण न पाकर उसी की शरण आई और बोली कि "मुझे मारकर प्रजाओ का पालन काहे पर करोगे?" पृथु ने उत्तर दिया "अपने शरीर को फैलाकर।" अस्तु, जमीन ने कहा कि "मै गौ

हूँ, मेरे लिये बछड़ा और दोहनेवाला और पात्र बता दो जिससे मैं दूध देती जाऊँ। परन्तु जरा पृथ्वी को समतल तो करो जिससे मेरा चूता हुआ दूध सब ओर फैले।" पृथु ने सब ओर से शिला-जालों को हटाया और जगह-जगह पहाड़ छोड़ दिए। पहले तो, जैसा ऊपर कहा गया है, न ग्राम थे न नगर, पर अब जहाँ जहाँ समतल भूमि मिलने लगी वहीं वहीं मनुष्य निवास करना पसद करने लगे। पृथु ने सब विधान कर दिया जिससे सारे भूत पृथ्वी दुहने लगे, उसका दूध पीने लगे।

मनुष्यो ने पृथ्वी को ही पात्र बनाया, प्रथम मनुष्य स्वयभू मनु को वत्स, और पृथु को दोहनेवाला बनाया और खेती और अनाज दुहा।

पृथु का प्रताप

उसके राज्य में न बुढ़ापा था न दुर्भिक्ष, आधि और व्याधि कहाँ? साँपों, चोरो या किसी और का भय न था। भूमि शस्यो की माला से सिंगारी हुई रहती। जब वह समुद्र को जाना चाहता, पानी रुक जाते, पहाड उसे मार्ग दे देते। उसने पृथ्वी में से सत्रह प्रकार के अन्न दोहन करके निकाले। जगली पशु भी उसके इतने वश में थे कि, शतपथ ब्राह्मण के अनुसार, उन्हे नाम लेकर बुला लिया करते कि 'आओ, आज तुम्हे पृथु पकाना चाहता है।' उसने लोगो को रिझाया इससे वह 'राजा' कहलाया। तब से ही भगवान् विष्णु राजा मे प्रविष्ट हुए हैं।

(महाभारत—द्रोणपर्व ६९, शातिपर्व ५८।)

मनु वैवस्वत

मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा वैवस्वतं मनुं राजानं चक्रिरे।

[कौटिल्य (चाणक्य) अर्थशास्त्र]

विवस्वत् का पुत्र मनु सब से प्रथम मनुष्य था। उसकी स्त्री का नाम मनु, मनायी अथवा मनावी मिलता है। उसी के पीछे मनुष्य और मानव कहलाते हैं। परंतु मनु वैवस्वत पहला राजा भी हुआ है, मनु उसके पहले भी थे। उसकी चुनावट और राज्य-प्राप्ति का वर्णन महाभारत शांतिपर्व के ६६वें अध्याय में है।

अराजकता के दोष

भीष्म युधिष्ठिर को समझा रहे हैं कि राष्ट्र का सबसे बड़ा काम राजा का अभिषेक करना है, जिस राष्ट्र में इंद्र नहीं होता उसे दस्यु हरा डालते हैं, वहाँ धर्म नहीं ठहर सकता प्रजाएँ आपस में एक दूसरे को खाती हैं, अराजकता को धिक्कार है! श्रुति कहती है कि "जब राजा को प्रणाम करता है (या एक पाठांतर के अनुसार चुनता है) तब इंद्र को ही प्रणाम करता (या चुनता) है" और 'अराजक राष्ट्र में बसना नहीं चाहिए,' वहाँ अग्नि देवताओं तक हव्य ही नहीं पहुँचाता! जिन राष्ट्रों में राजा न हो, या जिनके वीर मर चुके हैं उनमें यदि कोई बलवान् राज्यार्थी आए तो उनके लिये सुमंत्रित यही है कि सामने उठ कर

उसकी पूजा करें क्योंकि अराजक राज्य से कोई बात पापतर नहीं है। जो गौ दु ख से दूध देती है उसे सताते हैं, जो सुख से दुहा जाती है उसे कोई नहीं छेडता।

यदतप्त प्रणमते न तत्सतापयन्त्युत।
यत्स्वय नमते दारु न तत् सनामयन्त्यपि ॥

जो लकडी विना तपाए नव जाती है उसे तपाते नहीं और जो आप नव जाती है उसे नवाते भी नहीं। इसी उपमा के अनुसार धीर वलवान् को नव जाय। जो बलवान् को प्रणाम करता है वह इद्र को प्रणाम करता है। भूति चाहनेवाले राजा बनाएँ ही, जो अराजक हैं उनके न धन सुरक्षित है, न स्त्रियाँ। पापी मनुष्य अराजकता मे औरो का धन चुराता हुआ प्रसन्न होता है, परतु जब उसका दूसरे हरते है तो राजा को चाहता है। और यह भी न समझना कि अराजकता में पापी सुख पाते हैं। जी नहीं, एक का धन दो मिल कर हर लेते हैं और दो का बहुत से और अदास दास वनाए जाते है, बलात्कार से स्त्रियाँ हरी जाती हैं।

राजा न चेद् भवेल्लोके पृथिव्या दण्डधारक ।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बल बलवत्तरा. ॥

यदि पृथ्वी मे दडधारक राजा न होता तो पानी की मछलियो की तरह दुर्बल को अधिक बलवान् खा जाते।

पुराकाल में प्रजाएँ अराजक होने से पानी मे मत्स्यो की तरह (अपने से) दुर्बलों को खाती हुई नष्ट हो चली थी ऐसा हमने सुना है। इस सोशियलिस्टो के आदर्श समाज ने

आपस मे मिलकर प्रतिज्ञाएँ की, ऐसा भीष्म ने सुना था। "जो हम लोगो मे जवान मे तेज हो दंड मे क्रूर हो, या परदारा-गमन करनेवाला हो, या जो हमारी प्रतिज्ञाओं को तोड़े वैसो को हम छोड़ देगे।" आपस मे विश्वास के लिये, सब वर्णों मे एक भाव से प्रतिज्ञा करके वे रहते थे। तथापि कुछ काल मे असुखी होकर वे पितामह (ब्रह्मा) के पास गए और उनसे कहा कि "बिना ईश्वर के हम नष्ट हुए जाते हैं, भगवन् ईश्वर दिखा जिसे हम मिल कर पूजा करें और जो बदले में हमे पाले।" पितामह ने उन्हें 'मनु' को दिखाया। मनु ने उनका कहना स्वीकार नहीं किया।

मनु ने कहा कि "इस पापकर्म से मै डरता हूँ, राज्य बहुत ही कठिन है, विशेष कर सदा के मिथ्यावृत्त मनुष्यो में।" प्रजाओ ने कहा कि "डरो मत, तुम्हारे लिये हम धन का हिस्सा देंगे। पशुओ मे से पाँचवाँ हिस्सा, जो कुछ खान मे से निकलेगा उसका पाँचवाँ हिस्सा, धान का दसवाँ हिस्सा देंगे जो तुम्हारे कोप को बढ़ाएगा। सुरूप विवाह योग्य कन्याओ में से सर्वोत्तम कन्या देंगे। प्रधान प्रधान मनुष्य अच्छे शस्त्र और वाहन लेकर तुम्हारे पीछे चलेंगे। इस तरह से बलवान् होकर प्रतापी और दुर्धर्ष तुम हम सबको सुख मे रखोगे। और जो तुम्हारी रखवाली मे प्रजा धर्म करेगी, हमारी तरफ से उसका चतुर्थ भाग तुम्हारे मे स्थित होगा। राजन्, उस बड़े धर्म से, जो तुम्हें

सुख से बिना परिश्रम मिलेगा, भावित होकर हमें सब तरह से रक्षा करो जैसे देवताओं को इंद्र।

विजयाय हि निर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव।
मान विधम शत्रूणां धर्मं जनय नः सदा॥

सूर्य की तरह तपते हुए विजय के लिये निकलो, शत्रुओं का मान धमका कर निकालो, हमारे धर्म को सदा उत्पन्न करो।"

ऐसा कहने पर वह बड़े बल से घिरा हुआ, तेज से चमकता हुआ चला। उसके महत्त्व को देखकर सब वर्णों के, आश्रमों के लोग म्लेच्छ और दस्यु तक डर गए और सब ने अपने धर्म मे मन लगाया। तब बरसते हुए मेघ की तरह पापात्माओं को सब ओर शांत करता हुआ और स्वकर्म में लगाता हुआ वह सारी पृथ्वी पर घूमा।

यह उपाख्यान कह कर भीष्म बाबा कहते हैं कि यों ही पृथ्वी मे जो मनुष्य भूति चाहते हैं वे प्रजा के अनुग्रह के लिये पहले राजा करें। जैसे शिष्य गुरु को, और जैसे देवता इंद्र को प्रणाम करते हैं वैसे राजा को भक्ति से प्रणाम करें। जिसका स्वजन सत्कार करते हैं उसे पराए भी बहुत मानते हैं, और जिसे घर के ही अवज्ञा करते हैं उसका दूसरे भी तिरस्कार करते हैं। इसी लिये राजा को छत्र, वाहन, वस्त्र, गहने, खाना, पीना, घर, आसन, शय्या, और सब उपकरण दे क्योंकि दूसरों से उसका अपमान होना सब को दुःख देनेवाला होता है। और राजा, राष्ट्र का गोप, दुःख से जीतने योग्य, मुसका कर बोलनेवाला हो और बात

करने पर मनुष्यों को मीठा उत्तर दे; कृतज्ञ हो, दृढ़-भक्ति हो, बराबर भाग बाँटनेवाला हो, जितेंद्रिय हो और जब प्रजा उसकी ओर देखे तो वह मृदु भाव से और सीधा देखे।

कृतज्ञो दृढभक्तिः स्यात्संविभागी जितेन्द्रियः।
ईक्षितः प्रतिवीक्षेत मृदु वल्गु च चक्षुषा च॥

इससे अगले अध्याय में बृहस्पति का और राजा वसुमनस् का संवाद दिया है जिसमें राजा-प्रजा का संबंध यों कहा गया है—

राजा प्रजाना प्रथम शरीर
प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम्।
राज्ञा विहीना न भवन्ति देशा
देशैर्विहीना न नृपा भवन्ति॥

—

सुकन्या की वैदिक कहानी

हिंदू लोग भोजन किए पीछे एक श्लोक[1] पढा करते है जिसका तात्पर्य यह है कि राजा शर्याति, उसकी कन्या सुकन्या, मुनि च्यवन, सोम, और अश्विनीकुमार, भोजन किए पीछे इनका नित्य स्मरण करनेवाले की आँख कभी नहीं बिगडती। इस सुकन्या की पतिभक्ति की कहानी प्रसिद्ध है। कैसे उसने बूढे च्यवन की धर्मपूर्वक सेवा की, कैसे वह बहकाई जाकर भी पतिव्रत से नहीं डिगी, और कैसे उसके सतीत्व के बल से उसका पति भला चगा हो गया, यह रोचक कहानी हिंदू माताओं, देवियो और पुत्रियो के सदा स्मरण रहती होगी। तभी तो हिंदुओ ने उसके उपाख्यान को इतना गैारव दिया कि नित्य के स्मरणीय नामो मे उसको रखा। इस कथा का पैाराणिक रूप झालरापाटन के पडित गिरिधर शर्म्मा ने 'सरस्वती' की किसी पिछली सख्या मे खडी बोली की कविता में वर्णन किया है। आज मैं उस कथा का वैदिक स्वरूप सुनाता हूँ जो पैाराणिक कथा का पिता है।

१—शर्याति च सुकन्या च च्यवन सोममश्विनौ।
भोजनान्ते स्मरेन्नित्य तस्य चक्षुर्न हीयते॥

शतपथ ब्राह्मण के चौथे कांड मे आश्विन ग्रह (सोम का वह कटोरा जिसके देवता अश्विनीकुमार होते है) की प्रशंसा के साथ साथ यह आख्यायिका आई है—

जहाँ से भृगु के वंशीय वा अंगिरस् के वंशीय (अपने कर्मों से) स्वर्गलोक को गए वहाँ च्यवन, जो या तो भृगुगोत्र का था या अंगिरस् गोत्र का, बहुत बूढा और पलीत का होकर[1], पीछे रह गया। मनुवंशी शर्यात[2] राजा अपने ग्राम के साथ[3] विचर रहा था। उसने उसी के, च्यवन के, पड़ोस मे आकर डेरा किया। लड़को ने[4] खेलते खेलते च्यवन को बूढा पलीत का सा और निकम्मा समझकर पत्थरो से खूब दला। वह (च्यवन) शर्यात-वालो[5] पर क्रुद्ध हुआ जिससे उनको व्यामोह हो गया और बाप बेटे से

१—कृत्यारूप-कठपुतली का सा या भुतने का सा।

२—पौराणिक नाम शर्याति। वेद में इंद्र का नाम भी शर्याति अर्थात् 'शर्या के गोत्र का' मिलता है। पुराने राजाओं और देवताओं का सगोत्र और सयोनि होना बहुत जगह पाया जाता है।

३—सारी प्रजा के साथ, सारी सेना के साथ, वा सारी कौम के साथ।

४—शर्यात के पुत्र अथवा कौम के कम-उम्र जवान।

५—शर्यात के परिवार पर, या सारी प्रजा पर। सब से पुराने समाजों में कुल का बड़ेरा ही जाति का राजा होता था। प्रजा के दोनों अर्थ हैं, संतति और रिआया। पुराने राजा संतति मे और प्रजा में भेद भी नहीं समझते थे क्योंकि संतति ही, किसी काल में, प्रजा थी।

लड़ने लगा और भाई भाई से[१]। शर्यात ने सोचा कि "मैंने कुछ न कुछ किया है जिससे कि यह आन पडा"। इसलिये उसने ग्वालो और गडेरियों को बुला कर कहा "तुम में से किसी ने आज यहाँ कुछ देखा था ?"। उन्होंने उत्तर दिया "यहाँ पर एक बूढा मनुष्य ही प्रेत सा सोया रहता है। उसे निकम्मा समझ कर कुमारो ने पत्थरों से ढला है।" राजा समझ गया कि यही च्यवन है[२]। वह हाथ जोड कर और उसमे अपनी पुत्री सुकन्या शार्याती को रख कर चला और वहाँ पहुँचा जहाँ ऋषि था, और बोला "ऋषे, नमस्ते। मै नही जानता था इससे मैंने अपराध किया (शब्दार्थ—हिंसा की)। यह सुकन्या (शब्दार्थ—अच्छी

१—दुर्वासा का ठट्ठा और अपमान करने से द्वारिका मे यदुवंशियो को भी यो ही व्यामोह हुआ था और मद्य पीकर वे भी यो ही कट मरे थे। राजकुमारों का उद्दंड होना सदा प्रसिद्ध है, जैसे—

'यत्किञ्चित्कारितया नृणां भवेद्राजपुत्रत्वम्', और 'कर्कट सधर्माणो हि जनकभक्षा राजपुत्रा' (कौटिल्य)

२—काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण में यह कथा कुछ और तरह है—तब शर्यात ने सोचा "कुछ न कुछ मैंने किया है जिससे ऐसी बडी भारी आपत्ति आई।" तब उसे यह सूझा "अवश्य ही बूढा आंगिरस् या भार्गव च्यवन यहाँ छूट गया था उसे मैंने किसी न किसी तरह अतिक्रुद्ध कर दिया होगा। इससे ही इतनी बडी आपत्ति हुई।" उसने अपने ग्राम को बुलवा जुटाया। सब को जुटा कर उसने पूछा "गोपाला या गड़ेरियां ने किसी ने यहाँ कुछ देखा है ?" उन्होने कहा "वह वहीं एक बुड्ढा प्रेत सा आदमी पडा है, उसे लड़को ने ढेलो से मारा है। यही देखा है"।

लडकी) है इससे मै तुमसे प्रायश्चित्त करता हूँ (शव्दार्थ—अप-राध छिपाता हूँ), मेरा ग्राम फिर जुड़ जाय, समझ जाय[१] ।" तभी उसकी प्रजा ठीक हो गई और शर्यात मानव वहाँ से डेरा उठाकर (शव्दार्थ—जूड़ा जोड़ कर) फिर चल पड़ा कि दूसरी वार अपराध न हो जाय ।

अश्विनी दोनों जगत् में चिकित्सा करते हुए फिरते थे । वे सुकन्या के पास आए और उससे जोडा करना चाहा । उसने यह नहीं माना । उन दोनो ने कहा "सुकन्ये किस लिये इस वूढ़े खूसट प्रेत के पास सोती है ? हमारे पास चली आ ।" वह वोली "जिसे मुझे वाप ने दिया है उसके जीते जी मै उसे नहीं छोड़ूँगी ।" ऋषि यह जान गया । वह वोला "सुकन्ये, तुझे इन्होंने क्या कहा ?" उसने उससे सब बखान कर दिया । सुनकर उसने कहा "यदि

१—पौराणिक कथा में तपस्या में बैठे हुए च्यवन की आँखों में चपलता और वालसुलभ कौतूहल से स्वय सुकन्या ने काँटा चुभाकर रुधिर निकाला है और फिर जव इस कारण पिता के कटक पर आपत्ति आई तो अपने पाप के अपराध-स्वरूप उसने स्वय उस वृद्ध की 'अधे की लाठी' वनना स्वीकार किया है । वैदिक कथा में कन्या का स्वार्थ-त्याग और भी अद्भुत है । जाति के उद्दंड कुमारों ने अपराध किया है । सारे राष्ट्र पर विपत्ति पड़ी है । उसे मिटाने के लिये पिता अपनी निरपराधिनी कन्या की, इजराईल के जज जेपथा की तरह, वलि देता है । वह भी पिता की आज्ञा के अनुसार, अपने पिता और भाइयो के कल्याण के लिये, उसी वूढे प्रेत जैसे पति की अनन्य सेविका हो जाती है ।

तुझे ऐसा ही फिर कहें तो कहना कि तुम अपने आप भी तो ऐसे समृद्धिवाले और भरे पूरे नहीं हो कि मेरे पति की नि दा करते हो। यदि वे तुझे पूछें कि हम क्योंकर नहीं समृद्ध और नहीं भरे पूरे हैं तो कहना कि मेरे पति को फिर जवान कर दो तब तुम्हें कहूँगी।" वे फिर उसके पास आए और उसे वैसे ही कहा। वह बोली "तुम दोनों भी तो बहुत समृद्ध और बहुत भरे पूरे नहीं हो कि मेरे पति को हँसते हो।" उन्होने कहा "हम काहे से नहीं भरे पूरे हैं, काहे से असमृद्ध हैं ?" उसने उत्तर दिया "मेरे पति को फिर युवा कर दो तब कहूँगी।" वे बोले "इस दह में[1] उसे न्हिला दे, वह जिस अवस्था को चाहेगा उसी का होकर निकलेगा।" उसने उस दह में न्हिलाया और (च्यवन ने) जिस वय की इच्छा की उसी के साथ वह निकला। वे बोले "सुकन्ये, हम काहे से नहीं भरे पूरे हैं, काहे से नहीं समृद्ध हैं ?" उनको ऋषि ने ही उत्तर दिया "देवता कुरुक्षेत्र में यज्ञ कर रहे हैं। उसमें से तुम दोनों को अलग कर रक्खा है, इसलिये नहीं भरे पूरे हो, नहीं समृद्ध हो।" वहाँ से दोनों अश्विन् चल दिए और वहिष्पवमान नामक सूक्त से स्तुति हो चुकने के समय यज्ञ में देवों के पास आ पहुँचे। उन्होंने कहा "हमको बुलाओ।" देवताओं ने कहा "तुमको नहीं बुलाएँगे, तुम चिकित्सा करते हुए बहुत दिन मनुष्यों में मिल-जुल कर विचरे हो[2]।" वे बोले "बिना

१—काण्व शाखा में दह का उल्लेख नहीं है।

२—मनुष्यों के संपर्क से ब्राह्मणों में चिकित्सकों की तरह देवताओं में अश्विन् भी कुछ हीन माने जाते थे, बहुत काल तक उन्हें यज्ञ में भाग नहीं था।

सिर के यज्ञ से यज्ञ कर रहे हो।" देवताओं ने पूछा "क्योंकरे विना सिर के से ?" वे बोले "हमे यज्ञ में बुलाओ तब कहेंगे[1]।" "ठीक है" यों कह कर देवताओ ने उन्हें बुलाया। उनके लिये इस आश्विन् सोमरस के कटोरे को लिया। वे दोनो यज्ञ के अध्वर्यु बने और यज्ञ का सिर फिर उन्होने लगा दिया। यह बात दिवाकीर्त्यों के ब्राह्मण[2] में लिखी है कि उन्होने कैसे यज्ञ का सिर फिर लगाया। इसी से यह कटोरा बहिष्पवमान स्तोत्र हो चुकने पर लिया जाता है क्योंकि वे (अश्विन्) बहिष्पवमान के स्तुत हो जाने पर आए थे।

जैमिनीय तलवकार ब्राह्मण में इसी कथा का एक कुछ नवीन रूप है। उसमें कथा का पिछला भाग यों है—

अश्विन् दोनो ने ऋषि से कहा "महाराज, हमें सोम का भागी बनाइए।" "अच्छी बात है, तुम मुझे फिर युवा कर दो।" वे उसे सरस्वती के शैशव (निकलने के स्थान) के पास ले गए।

१—यहाँ अश्विन् वही चाल चले हैं जिससे सुकन्या और च्यवन ने उनसे अपना मनोरथ पाया था।

२—दिवाकीर्त्य या दिवाकीर्त—शतपथ १४. १. १. ८ से तात्पर्य है। गवामयन नामक संवत्सर सत्र में विषुवत् का दिन (अथवा एकविंश) भी आता है। उसके पहले और पीछे दस दस दिन जो याग होते हैं उनमें प्रयोग में आनेवाले मंत्र, और वह इक्कीसवाँ दिन भी दिवाकीर्त्य कहलाते हैं। ऋग्वेद १०।१७०।१–३ के सामगान का भी नाम दिवाकीर्त्य है। महादिवाकीर्त्य के ग्यारह मंत्रों का उल्लेख शांखायन श्रौतसूत्र में है। साम-संहिता उत्तरार्चिक ८।३ का नाम बोधायन धर्मसूत्र में महादिवाकीर्त्य लिखा है।

ऋषि (सुकन्या से) बोला "बाले, हम सब एकसार दिखाई देते हुए निकलेंगे, तू तब मुझे इस चिह्न से पहचान लेना।" वे सब ठीक एकाकार दीखते हुए स्वरूप में अति सुंदर होकर निकले। उस (सुकन्या) ने उसे (च्यवन को) पहचान कर कहा "यही मेरा पति है।" उन्होंने ऋषि से कहा "ऋषे, हमने तुम्हारा वह काम पूरा कर दिया है जो तुम्हारा काम था, तुम फिर युवा हो गए हो, अब हमको इस तरह सिखाओ कि हम सोम के भागी हो जाँय।" तब च्यवन भार्गव युवा होकर शर्यात मानव के पास गया और उसने पूर्व वेदि पर उसका यज्ञ कराया। राजा ने उसे सहस्र (गौएँ) दीं, उनसे उसने यज्ञ किया। यों च्यवन भार्गव, इस च्यवन साम में प्रशसित होकर फिर युवा हो गया। उसने बाला स्त्री पाई और सहस्रदक्षिण यज्ञ किया।

पौराणिक कथा से इस पुरानी कथा की तुलना पाठक कर ले।

शुनःशेप की कहानी*

इक्ष्वाकु वंश का राजा हरिश्चंद्र, वेधस् का पुत्र, अपुत्र था। उसके सौ स्त्रियाँ थीं। उनके कोई पुत्र न हुआ। उसके घर में पर्वत और नारद ऋषि आकर रहे। राजा ने नारद से पूछा—

जो जानें जो नहीं जानें, पुत्र को सब चाहते।
कहिए नारद मुझे पुत्र से फल क्या मिले ?

एक गाथा कहकर उससे पूछा गया था, उसने दस में उत्तर दिया—

ऋण को उसमें धरता, औ पाता अमृतत्व को।
पिता जो अपने जाए पुत्र का मुख देख ले ॥
जितने भोग पृथ्वी में, अग्नि में, जल में तथा।
जीवों को, उनसे बढ़के पिता को पुत्र में मिलें ॥
तरा घोर अँधेरे को पुत्र से नित्य बाप ने।
आत्मा से जन्मता आत्मा, यह नौका तरावनी ॥
"क्यों मैले रहते ? विप्रो ! चर्म क्यों ? केश क्यों बढ़े ?
तप क्यों ? सुत ही चाहो"–यों हैं लोग बखानते ॥
अन्न जिलावे, वस्त्र ढके तन, रूप स्वर्ण दे, भार वहें पशु।
दयापात्र बेटी, स्त्री साथी, पुत्र ज्योति है लोक परम में ॥

---

* ऐतरेय ब्राह्मण से उद्धृत। (ऐ० ब्रा० ७वीं पंचिका, ३ रा अध्याय—संपादक)।

जाया में पति पैठे है गर्भ हो, मा करे उसे।
उसी में फिर नया हो के दसवें मास जन्मता ॥
जाया जाया कहाती है कि उसमे फिर जन्म हो।
बढती महिमा की है, बढाती वृतवीर्य को ॥
ऋषियो देवताओं ने महातेज दिया उसे।
देव बोले मनुष्यो से "जनेगी फिर तुम्हें यही" ॥
अपुत्र का ठिकाना न पशु सब जानते यही।
सुत जोडा करे उनमें मा बहन से इसी लिये ॥
मार्ग बडा बहुतों का गाया जिस पर सुतयुत चलें अशोक।
इसको पशु पक्षी भी जानें तो ही वे करते जननी योग ॥

यो कहकर उसे कहा कि "वरुण राजा से प्रार्थना कर कि मेरे पुत्र हो तो उसे तुझे चढाऊँ।" "अच्छा।" वह वरुण राजा के पास गया और यह विनती की कि "मेरे पुत्र हो जाय, उससे तेरा याग करूँ।" उसके रोहित नाम का पुत्र हुआ। वरुण ने राजा से कहा "तेरे पुत्र जन्मा उससे मेरा याग कर।" राजा ने कहा कि "जब पशु दश दिन से बढ जाता है तब वह यज्ञ के योग्य होता है, दश दिन लाँघने दो तब तुझे यजूँ।" "ठीक है।" वह दश दिन का हो गया। वरुण ने राजा से कहा "दश दिन को लाँघ गया, अब मुझे इससे यज।" राजा बोला "जब पशु के दाँत निकल आते है तब वह यज्ञ के योग्य होता है, दाँत इसके हो जाँय तब तुझे यजूँ।" "ठीक है।" उसके दाँत हो गए। वरुण ने राजा से कहा "इसके दाँत हो गए हैं, अब मुझे इससे यज।" राजा

बोला "जब पशु के दाँत गिर जाते हैं तब वह मेध के योग्य होता है, दाँत इसके गिर जाँय तब तुमको इससे यजूँ।" "ठीक है।" उसके दाँत भी गिर गए। वरुण ने राजा से कहा "इसके दाँत गिर गए है, अब मुझे इससे यज।" राजा बोला "जब पशु के दाँत फिर उग आते हैं तब वह मेध्य होता है, दाँत इसके फिर हो जाँय तब तुमको इससे यजूँ।" "अच्छा।" उसके दाँत फिर निकल आए। वरुण ने राजा से कहा "फिर इसके दाँत निकल आए है, अब मुझे इससे यज।" वह बोला "जब क्षत्रिय कवचधारी होता है तब वह मेध्य होता है, कवच पाने का उठान इसे पाने दो तब तुमको इससे यजूँ।" "अच्छा।" वह कवच पा गया। वरुण बोला "अब यह कवच पा गया है, इससे मुझे यज।" यों कहते ही उसने बेटे को बुलाया और कहा "लाल, तुझको मुझे इसने दिया है, तुझसे मैं अब इसे यजूँगा।" वह 'नहीं' कहकर धनुष तानकर वन में चला गया। वहाँ वह वर्ष भर घूमता फिरा। इधर इक्ष्वाकुवंशी राजा को वरुण ने घर लिया और उसे जलोदर हो गया। यह रोहित ने सुना। वह जंगल से बस्ती मे आया। उसके पास इंद्र पुरुष के रूप से आकर बोला—

"श्रमी को रोहित! सुना लक्ष्मी बहुविधा मिले।
बैठा निगोड़ा पापी है, फिरते का मित्र इंद्र है॥

तू घूमता रह"। 'मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि घूमता रह' इसलिये वह दूसरे वर्ष भी वन में रहा। फिर जब वह वन से बस्ती में आया तो इंद्र पुरुष-रूप से सामने आकर बोला—

"घूमते की जाँघ फूले, बढ़े आत्मा, मिले फल।
सो जाते पाप सब उसके श्रम से मार्ग में हने॥

तू घूमता रह।" 'मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि विचरता रह' इसलिये वह तीसरे वर्ष भी वन में रहा। वह जब पुन वन से बस्ती को आया तो इंद्र ने पुरुष-रूप से आकर उसे कहा—

"बैठे का भाग्य बैठा है, खड़े का भाग्य हो खडा।
पड़े का भाग्य सोता औ चलते का बढा करे॥

तू घूमता ही रह।" 'मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि विचरता रह' इसलिये वह चौथे वर्ष भी वन में रहा। फिर जब वह वन से बस्ती को आया तो उससे इंद्र पुरुष-रूप से आकर बोला—

"सोता कलि कहाता है द्वापर स्थान छोडता।
त्रेता वह खड़ा जो हो, चलता कृत ही बने॥

अथवा

(राजसूय में जो पासों के नाम और अर्थ कहे हैं उनके अनुसार—)

'कलि' सोया, 'द्वापर' चला, 'त्रेता' तो है अभी खडा।
'कृत' बढता चला आता, जीत की आस पूर्ण है॥

घूमता ही रह।" 'तू घूमता ही रह' यह मुझे ब्राह्मण ने कहा है, ऐसा सोच कर वह पाँचवें वर्ष भी वन में फिरा। वह अरण्य से बस्ती को आया तो इंद्र ने पुरुष-रूप से आकर कहा—

"विचरे मधु को पावे, मीठे फल उदुम्बर।
सूर्य की महिमा देखो घूमता ऊँघता नहीं॥

घूमता ही रह।" 'मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि घूमता ही रह' यह सोच कर वह छठे वर्ष जगल में फिरा। वहाँ जंगल में उसे भूख से मरता हुआ सुयवस का पुत्र अजीगर्त ऋषि मिला। उसके तीन पुत्र थे। रोहित ने उसे कहा "ऋषे, मैं तुझे सौ (गौएँ) दूँगा, इनमें से एक के बदले अपने को वेंच बचाऊँगा।" वह बड़े पुत्र को पकड़ कर बोला "इसे तो नहीं" और छोटे को "इसे भी नहीं" यों माता बोली। वे दोनो विचले शुनःशेप पर राजी हो गए। उसको सौ देकर, उसको लेकर, वह वन से ग्राम को आया। आकर वह पिता से बोला "तात, मैं इससे अपने को बदल वेचता हूँ।" वह उसी को ले वरुण राजा के पास पहुँचा कि "इससे तुझे यजूँ।" वरुण ने कहा "अच्छा. क्षत्रिय से ब्राह्मण बढ़ कर है" और राजा को राजसूय यज्ञ समझाया। राजा ने उस अभिषेचनीय (अभिषेक) के यज्ञ में पशु की जगह उस पुरुष को पकड़ा (बलि के लिये)।

राजा के यज्ञ में विश्वामित्र होम करनेवाला, जमदग्नि यज्ञ का प्रबध करनेवाला, वशिष्ठ भला-बुरा देखनेवाला और अयास्य साम गानेवाला था। जब उस शुन.शेप को मन्त्रित किया गया तो उसे खूँटे से बाँधनेवाला कोई न मिला। सुयवस का पुत्र अजीगर्त बोला "मुझे और सौ दो, मैं इसको बाँध दूँगा।" उसे और सौ (गौएँ) दीं, उसने बाँध दिया। जब उसे मंत्रित कर दिया, बाँध दिया, आप्री मंत्र पढ़ दिए गए और उसके चारों ओर आग घुमा दी गई तो कोई उसे मारनेवाला न मिला। सुयवस का पुत्र

अजीगर्त बोला "मुझे और सौ दो, मैं इसे काट दूँगा।" उसे और सौ दिए। वह खड्ग पर धार देता हुआ आया। अब शुनःशेप ने सोचा "नहीं मनुष्य (=पशु) की तरह ही ये मुझे काटना चाहते हैं, भला मैं देवताओं को तो पुकारूँ।" वह पहले देवताओं में प्रथम प्रजापति के पास पहुँचा (=स्तुति की) इस मन्त्र से-

अमृतों में किस देव कौनसे का हम ध्यावें सुंदर नाम ?
कौन मुझे फिर देय अदिति को, मात-पिता को देखूँ जाय ॥
(ऋग्वेद १।२४।१)

उसे प्रजापति ने कहा "अग्नि देवताओं में से सब से पास है, उससे प्रार्थना कर।" उसने इस मन्त्र (ऋग्वेद १।२४।२) से अग्नि की प्रार्थना की—

अमृतों में से प्रथम अग्नि का हम ध्याते हैं सुंदर नाम।
वही मुझे फिर देय अदिति को, मात-पिता को देखूँ जाय ॥

अग्नि ने उसे उत्तर दिया "सविता सब जन्मवालो का स्वामी है उसी के पास जा।" उसने 'अभि त्वा देव सवित" इन तीन मन्त्रो से सविता की प्रार्थना की (ऋग्वेद १।२४।३–५)। सविता ने उसे उत्तर दिया "राजा वरुण के लिये बाँधा गया है, उसी के पास जा।" उसने इसके आगे के इकतीस मन्त्रो (ऋ० १।२४।६—१।२५।२१) से राजा वरुण की स्तुति की। उसे वरुण ने कहा "अग्नि देवताओ का मुख है, सब से सहृदय है, उसकी स्तुति कर फिर तुझे छोड़ देंगे।" उसने उसके आगे के बाईस मन्त्रों से अग्नि की स्तुति की (ऋग्वेद १।२६।१—१।२७।१२)। उससे अग्नि ने कहा "विश्वदेवो की स्तुति कर

फिर तुझे छोड़ देंगे।" उसने विश्वदेवो की स्तुति की "नम. बड़ो को नम छोटो को" इस ऋक् से (१।२७।१३)। उसे विश्वदेवो ने कहा "इंद्र सब देवों में सब से बलवान्, तेजवाला, सहनेवाला, सच्चा और पार पहुँचानेवाला है: उसकी स्तुति कर फिर तुझे छोड़ देंगे।" उसने इंद्र की स्तुति ऋग्वेद १।२९ से और १३० के पंद्रह मंत्रों से की। इंद्र ने उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे सोने का रथ दिया। इस वर को उसने ऋग्वेद १।३०।१६ से स्वीकार किया। उसे इद्र ने कहा "अश्विनो की स्तुति कर, फिर तुझे छोड़ देंगे।" उसने इसके आगे के तीन मन्त्रो (ऋग्वेद १।३०।१७–१९) से अश्विनों की स्तुति की। अश्विनों ने उसे उत्तर दिया "उषा की स्तुति कर फिर तुझे छोड़ देंगे।" उसने इसके आगे के तीन मंत्रो (ऋग्वेद १।३०।२०–२२) से उषा की स्तुति की। उसकी एक ऋक् कहते ही पाश ढीले पड़ गए और वह खुल गया और राजा इक्ष्वाकुवंशी का पेट हलका होने लग गया। और अंतिम ऋक् के कहते ही पाशों से छूट गया और ऐक्ष्वाकु नीरोग हो गया।

ऋत्विजों ने अब शुन शेप से कहा "तुम ही हमारी आज इस दिन की संस्था (प्रधानता) को लो।" तब शुन शेप ने जल्दी सोमरस निकालने की चाल निकाली और ऋग्वेद १।२८।५-८ इन चार ऋचाओं से सोम को कूट निचोड़ा और फिर ऋग्वेद १।२८।९ से उस सोम को द्रोणकलश में डाला। जब राजा हरिश्चंद्र ने उसे छू लिया तब उसने 'स्वाहा' कहकर ऋग्वेद १।२८। १–४ इन चार मंत्रो से उस सोम को होमा। तब राजा को

ऋग्वेद ४।१।४–५ इन दो मन्त्रों से अवभृथ स्नान कराया और फिर "शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्रात्" इस मन्त्र (ऋ० ५। २।७) से आहवनीय अग्नि के पास पहुँचाया।

अब शुन शेप विश्वामित्र की गोद में जा बैठा। सुयवस का पुत्र अजीगर्त बोला "ऋषे, मेरे पुत्र को लौटा दो।" विश्वामित्र ने कहा "नहीं, देवताओं ने मुझे यह दिया है।" वह विश्वामित्र का पुत्र देवरात हुआ जिसके वंश में ये कापिलेय और बाभ्रव हैं। सुयवस के पुत्र अजीगर्त ने फिर कहा कि "आ जा, हम दोनों तुझे बुलाते हैं।" और भी उसने कहा—

जन्म से अंगिरागोत्री मेरा पुत्र प्रसिद्ध तू।
ऋषे, कवे, लौट, मत जा दादा की तंतु से परे॥

शुन शेप ने कहा—

देखा तुझे खड्ग लिए, शूद्रों में भी न ये मिले।
अंगिरः! तीन सौ गौएँ मुझसे श्रेष्ठ मान लीं॥

अजीगर्त सौयवसि बोला—

लाला! मुझे जलाता है पाप कर्म किया हुआ।
मिटाना चाहता दोष वह सौ गौ तुम्हें मिलें॥

शुन शेप ने उत्तर दिया—

एक जो पाप कर ले दूसरा वह फिर करे।
न हटा शूद्र-अन्याय से तू संधि न हो सके॥

"अवश्य यह काम संधि के योग्य नहीं है" यह विश्वामित्र ने भी कहा। और कहा—

अजीगर्त महाभीम खड्ग ले काटने खड़ा।
दीखे था, पुत्र इसका हो मत, मेरा बनो सुत॥

शुन शेप बोला—

राजपुत्र मुझे आप समझा कह दीजिए।
न खोऊँ अंगिरा गोत्र, हो जाऊँ पुत्र आपका॥

विश्वामित्र ने कहा—

तू जेठा पुत्र मेरों में, तेरी संतान श्रेष्ठ हो।
दैवी संपत्ति मेरी ले, हो उससे अभिमन्त्रित॥

शुन शेप ने कहा—

मान लें पुत्र तेरे जो तो मुझे श्री प्रसाद हो।
कह दो भरतश्रेष्ठ उन्हें क्योंकर बना सुत॥

अब विश्वामित्र ने पुत्रों को संबोधन किया—

मधुच्छंदा सुनो बात रेणु ऋषभ अष्टक।
जितने तुम भाई हो इससे ज्येष्ठ ना बनो॥

ऋषि विश्वामित्र के सौ पुत्र थे—पचास मधुच्छंदस् से बड़े, पचास छोटे। जो बड़े थे उन्होंने यह भला न माना। विश्वामित्र ने उन्हें शाप दिया कि "तुम्हारी संतान अंत्य (जाति) को भोगेगी।" वे ये अंध्र, पुंड्र, शबर, पुलिंद, मूतिब, चोरों से भरे हुए बहुत अंत्य (अंत जाति या अंत देशवाले) विश्वामित्र के वश के हैं। मधुच्छंदस् पचास छोटों के साथ बोला—

जो हमारा पिता माने उस पर हम हैं खड़े।
आगे करें आपको औ पीछे हैं हम आपके॥

विश्वामित्र ने प्रसन्न होकर अपने पुत्रो की स्तुति की--

"पुत्रो तुम पशुओंवाले पुत्रोंवाले सदा रहो।
क्योकि मेरी बात मानी वीरवाला मुझे किया ॥
गाथिपुत्रो! देवरात अग्रणी से समृद्ध हो।
रहोगे, सुतवालो! यह ले जावे सत्यमार्ग में ॥
वीर तुम में देवरात कुशिको! इस पर चलो।
पाए ये तुमको, मेरे दाय को, सब ज्ञान को ॥"
सीधे विश्वामित्र-पुत्र श्रेष्ठ गिन देवरात को।
गाथिपौत्र धनी साथ कीर्त्ति सम्पत्तिवान् हुए ॥
ऋषि दोनों अपौती का कहाता देवरात यो।
जह्नु गोत्री राजपति औ विद्यापति गाथि का ॥

यह सौ ऋचाओं से ऊपर गाथाओंवाला शुनःशेप का उपाख्यान है जिसे होता अभिषेक किए पीछे राजा को सुनावे। सोना मढ़ी हुई गद्दी पर बैठकर होता इसे कहता है और सोना मढ़ी हुई गद्दी पर बैठकर ही अध्वर्यु इसके उत्तर देता है। होता ऋक् सुनावे तो अध्वर्यु 'ओम्' कहे और गाथा पढे तो 'यों ही, वैसे ही' कहकर हुकारा भरे। राजा जब जीते, चाहे वह यज्ञ न करे तो भी, यह शुन शेप की कथा कहलावे, उसमें तनिक भी पाप नहीं बच रहता। कहनेवाले को सहस्र गौएँ दे और उत्तर में 'हाँ' 'हूँ' कहनेवाले को सौ। वे दोनो आसन उन्हें प्रत्येक को दे दे और चाँदी से मढ़ा हुआ एक खच्चरों का रथ होता को। पुत्र चाहनेवाले भी इस कथा को कहलावें तो वे पुत्रो को पाते हैं।

इस कथा को पढ़कर यह अनुमान करना भूल है कि मनुष्य-बलि प्राय होती थी। प्रत्युत काटनेवाले का न मिलना आदि बातें इस घटना का निरालापन दिखाती हैं। यह कहानी दिखाती है कि दीनता और भूख मनुष्य को किस नीच कर्म करने तक पहुँचा देती है, कैसे परिश्रम से खोजनेवाले को सब कुछ मिलता है, कैसे दृढ़ मनुष्य देवताओ को प्रसन्न कर लेता है और कैसे अपने पिता के हाथ से मारे जाने से बच कर अपनी विद्या के बल से संस्थापित और दो कुलों का स्वामी हो सकता है। राजा को अभिषेक के पीछे इस कथा को सुनाने का तात्पर्य यह है कि वह हरिश्चंद्र की सी भयकर प्रतिज्ञा कभी न करे, आपत्ति आने पर भी निराश न हो, रोहित की तरह घूमता रहे और अपने सुराज्य से ऐसा अवसर न दे कि लोग भूख के मारे अजीगर्त के से नर-पिशाच बन जाँय।

पुराने राजाओं की गाथाएँ

यों तो ऋग्वेद में बहुत से राजाओ की 'दानस्तुति' हैं, परतु यहाँ पर उन्हीं राजाओ का उल्लेख किया जाता है जिनके विषय की गाथाएँ ऐतरेय ब्राह्मण मे ऐंद्र महाभिषेक के प्रसग में और शतपथ ब्राह्मण मे अश्वमेध के प्रसग मे दी हैं। सभव है कि अध्वर्यु के इस कहने पर कि "इस यजमान के पुराने साधुकर्ता राजाओं के साथ गाओ" वीणा वालों के झुंड इन्हीं को गाते हों। क्या ही अच्छा होता यदि पारिप्लव उपाख्यान के प्रतीक मात्र न रहकर पूरी कथाएँ रहतीं और उन ब्राह्मण और राजन्य वीणा-गाथियों की 'अपने आप भरी हुई' गाथाओं के कुछ नमूने भी बचते। गाथाएँ बहुत पुरानी हैं। ब्राह्मण-काल के पहले से ही 'अभियज्ञ गाथाएँ' चली आती हैं। ये पुराणों की बीज हैं और ऋग्वेद के मत्र और जदावस्था की गाथाओं से उस तरफ और बौद्ध-गाथाओं से इस तरफ बहुत संबध रखती हैं।

जनमेजय, परीक्षित का पुत्र

तुर कावषेय ने उसका ऐंद्र महाभिषेक किया और इद्रोत दैवाप शौनक ने उसे अश्वमेध कराया। गाथा—

आसदीवाले देश में, धान खानेवाला, सोने के चाँद और कठे पहननेवाला।
चितकबरा घोडा बाँधा देवताओं के लिये जनमेजय ने॥

भीमसेन, उग्रसेन, श्रुतसेन, परीक्षित के पोते

इनने क्रमशः ज्योति-अतिरात्र, गौ-अतिरात्र और आयु-अतिरात्र यज्ञ किए। गाथा—

परीक्षित के पोते, यजमान, अश्वमेधों से, एक के पीछे एक।
पुण्यात्माओं ने छोड़ा पाप कर्म को पुण्य कर्म करके॥

भरत दौष्यंति

ममता के पुत्र दीर्घतमा ऋषि ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया और इसने विष्णुक्रांत अश्वमेध किया। तब इसने यह व्याप्त राज्य पाया जो भरतों का है। गाथाएँ—

सोने से ढके हुए काले श्वेत दाँतों वाले मृगों (हाथियों) के।
एक सौ सात बद्व (टोले) भरत ने मष्णार (देश) में दिए॥

दुष्यंत के पुत्र भरत ने यह अग्नि साचिगुण देश में (वेदि पर) चिना। जहाँ सहस्रों ब्राह्मणों ने टोले-टोले गौएँ बाँटीं (आपस में)॥

अठत्तर भरत दुष्यंत के पुत्र ने यमुना तट पर। और गंगा पर पचपन घोड़े वृत्र के मारनेवाले (इंद्र) के लिये बाँधे॥

राजा एक सौ तेंतीस यज्ञीय घोड़ों को बाँधकर। दुष्यंत का पुत्र (सुद्युम्न का वंशधर) और मायावी राजाओं को अपनी अधिक माया से जीता॥

अप्सरा शकुंतला ने नाडपित् (कण्व के आश्रम ?) में भरत को (गर्भ में) धारण किया॥

जिसने सारी पृथ्वी को जीतकर इंद्र के लिये यज्ञ के योग्य हजार से ऊपर घोड़े लाए॥

बड़ा कर्म भरत का न-तो पहले न पिछले जने। मर्त्य, जैसे आकाश को हाथों से, न पा सके और न पाँचों मनुष्य ॥

पाँचों मनुष्यों से अभिप्राय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषादों से है।

मरुत्त आविक्षित

संवर्त आंगिरस ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया और इसने महाव्रत अतिरात्र अश्वमेध यज्ञ किया। यह जाति का आयोगव था। गाथा–

मरुत परोसने वाले मरुत्त के घर में रहे। अविक्षित के पुत्र, काम-पूरक के यहाँ, अग्नि द्वाररक्षक और विश्वेदेव सभासद ॥

शतानीक सात्राजित

सोमशुष्मा वाजरत्नायन ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया। इसने काश्य (काशी के) राजा के घोड़े को हर के गोविनत नाम अश्वमेध किया। तब से काशि लोग अग्नि ही नहीं रखते कि 'हमारा सोमपान हरा गया'। गाथाएँ–

शतानीक सत्राजित के पुत्र ने पड़ोस में काशियों के यज्ञरूपी। पवित्र घोड़े को हर लिया जैसे भरत ने सत्वतों के (घोड़े को) ॥

राज्य के पडोस में दशम मास में स्वच्छंद चरते हुए धृतराष्ट्र के यज्ञीय। श्वेत घोड़े को लेकर शतानीक ने गोविनत से यज्ञ किया ॥

आज तक भरतवंशियों की बड़ाई को न पहले के और न पीछे के जने पा सके। न सातों (जाति के) मनुष्य, जैसे मर्त्य आकाश को बगलों से ॥

शार्यात मानव

च्यवन भार्गव ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया था। यह देवताओं के सत्र में भी गृहपति बनाया गया था। विशेप मेरी लिखी 'सुकन्या की वैदिक कहानी'* में देखिए।

आंबाष्ठ्य

इसका ऐंद्र महाभिषेक पर्वत और नारद ऋषियो ने किया था। (क्या यह अंबष्ठ जाति का था ?)

युधांश्रौष्टि, उग्रसेन का पुत्र

इसका ऐंद्र महाभिषेक पर्वत और नारद ने किया था।

विश्वकर्मा भौवन

कश्यप ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया। भूमि ने यह गाथा गाई थी—

न मुझे कोई मनुष्य दे सकता है (सारी को) भुवन के पुत्र विश्वकर्मन्, तैने मुझे दे डाला! मैं समुद्र के जल में डूब जाऊँगी, कश्यप को की हुई तेरी प्रतिज्ञा (सारी पृथ्वी देने की) व्यर्थ है॥

सुदास पैजवन

इसका ऐंद्र महाभिषेक वसिष्ठ ने किया था। ऋग्वेद मे इसकी दानस्तुतियों का वर्णन है।

---

* दे०—पृ० १४—सपादक।

बड़ा कर्म भरत का न तो पहले न पिछले जने। मर्त्य, जैसे आकाश को हाथों से, न पा सके और न पाँचों मनुष्य ॥

पाँचो मनुष्यो से अभिप्राय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषादो से है।

मरुत्त आविक्षित

संवर्त आंगिरस ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया और इसने महाव्रत अतिरात्र अश्वमेध यज्ञ किया। यह जाति का आयोगव था। गाथा—

मरुत परोसने वाले मरुत्त के घर में रहे। अविक्षित के पुत्र, काम-पूरक के यहाँ, अग्नि द्वाररक्षक और विश्वेदेव सभासद ॥

शतानीक सात्राजित

सोमशुष्मा वाजरत्नायन ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया। इसने काश्य (काशी के) राजा के घोड़े को हर के गोविनत नाम अश्वमेध किया। तब से काशि लोग अग्नि ही नही रखते कि 'हमारा सोमपान हरा गया'। गाथाएँ—

शतानीक सत्राजित के पुत्र ने पड़ोस में काशियो के यज्ञरूपी। पवित्र घोड़े को हर लिया जैसे भरत ने सत्वतों के (घोड़े को) ॥

राज्य के पडोस में दशम मास में स्वच्छंद चरते हुए धृतराष्ट्र के यज्ञीय। श्वेत घोड़े को लेकर शतानीक ने गोविनत से यज्ञ किया ॥

आज तक भरतवंशियों की बडाई को न पहले के और न पीछे के जने पा सके। न सातों (जाति के) मनुष्य, जैसे मर्त्य आकाश को बगलों से ॥

शार्यात मानव

च्यवन भार्गव ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया था। यह देवताओं के सत्र में भी गृहपति बनाया गया था। विशेष मेरी लिखी 'सुकन्या की वैदिक कहानी'* में देखिए।

आंबाष्ठ्य

इसका ऐंद्र महाभिषेक पर्वत और नारद ऋषियों ने किया था। (क्या यह अंबष्ठ जाति का था ?)

युधांश्रौष्टि, उग्रसेन का पुत्र

इसका ऐंद्र महाभिषेक पर्वत और नारद ने किया था।

विश्वकर्मा भौवन

कश्यप ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया। भूमि ने यह गाथा गाई थी—

न मुझे कोई मनुष्य दे सकता है (सारी को) भुवन के पुत्र विश्वकर्मन्, तैंने मुझे दे डाला ! मैं समुद्र के जल में डूब जाऊँगी, कश्यप को की हुई तेरी प्रतिज्ञा (सारी पृथ्वी देने की) व्यर्थ है ॥

सुदास पैजवन

इसका ऐंद्र महाभिषेक वसिष्ठ ने किया था। ऋग्वेद में इसकी दानस्तुतियों का वर्णन है।

---

* दे०—पृ० १४—संपादक।

अंग

इसका दूसरा नाम अलोपांग था, क्योंकि सारे शरीर के अंग इसके सुंदर और नीरोग थे। इसका ऐंद्र महाभिषेक उदमय आत्रेय ने किया। राजा ने यह गाथा कही थी–

दस हजार हाथी और दस हजार दासियाँ।

तुझे मैं देता हूँ हे ब्राह्मण! मुझे इस यज्ञ में बुला॥

क्योंकि प्रियमेधस् (ऋषि) लोग उस समय उदमय आत्रेय को यज्ञ करा रहे थे। उसकी ये गाथाएँ हैं–

जिन गौओं से प्रियमेधस् के पुत्रों ने उदमय को यज्ञ कराया। अत्रि के पुत्र उसने (प्रति गौ के लिये) दो दो हजार टोले बीच में रखे॥

अट्ठासी हजार श्वेत घोड़े विरोचन के पुत्र ने। यज्ञ करते हुए अपने पुरोहित को (उदमय को) अच्छे रथ खैंचनेवाले खोलकर दिए॥

देश देश से लाई हुई सब धनाढ्य कन्याएँ। दस हजार दीं आत्रेय ने सोने के कंठे (निष्क) पहनने वालीं॥

अत्रि का पुत्र अवचत्नुक देश में दस हजार हाथी देकर। ब्राह्मण थक गया और अपने पडोसियों को अंग का दान लेने के लिये बोला॥

"तुझे सौ" "तुझे सौ" यो कहते कहते थक गया। "तुझे हजार" "तुझे हजार" यो कह कहकर साँस लेने लगा॥

दुर्मुख पांचाल

बृहदुक्थ ऋषि ने इसे ऐंद्र महाभिषेक सुनाया, जिससे यह राजा न होकर भी (=जन्म से क्षत्रिय न होकर भी ?) दिग्विजयी हुआ। इसे छोड और ऊपर के सब ने अश्वमेध भी किए थे।

शोण सात्रासाह पांचाल

इसने त्रयस्त्रिंशस्तोम अश्वमेध किया। गाथाएँ—

सत्रासाह का पुत्र जब अश्वमेध कर रहा था। तब तुर्वश देश के तेतीस घोड़े निकले और छ हजार कवचधारी॥

छः छः करके, छः हजार तुम्ह कोक के पिता के। यज्ञ में तेतीस (स्तोम ?) निकले और छः हजार कवचधारी॥

पाचाल राजा सात्रासाह जब अच्छी मालाएँ पहन कर यज्ञ कर रहा था। इंद्र सोम से मस्त हुआ और ब्राह्मण धनों से तृप्त हुए॥

क्रैव्य पांचाल

'क्रिवि' यह पहले पांचालो (देश और जाति) का नाम था। वहाँ के इस राजा ने आप्तोर्याम अतिरात्र अश्वमेध किया।

क्रिवियो में सबके सिरमौर (अतिपूरुष) ने यथार्थ अश्व को पकड़ा। पाँचाल ने परिचक्रा में, सौ हजार (गौएँ) जिसकी दक्षिणा थी॥

हजार अयुत (दस हजार या अनगिनत ?) ये और पच्चीस सौ थीं। (दक्षिणाएँ) जिन्हें दिशा दिशा से आकर पाचालों के ब्राह्मणों ने बाँटा॥

पर आट्णार, कोशल का राजा

अभिजित् अतिरात्र अश्वमेध से यज्ञ करनेवाले इस राजा के विषय में यह गाथा है—

अट्णार के पुत्र पर ने यज्ञ के योग्य अश्व को बाँधा। सोने की मेखला पहननेवाले कौशल्य ने, और पूरी दिशाएँ दान में दीं॥

पुरुकुत्स, इक्ष्वाकु वंश का

इसने विश्वजित् अतिरात्र नामक अश्वमेध दौर्गह अश्व से किया। इसी को लक्ष्य कर के ऋग्वेद के चौथे मडल ४२ सूक्त मे* पुरुकुत्स का पुत्र त्रसदस्यु कहता है कि—

वे हमारे पुरखा सात ऋषि यहाँ थे दौर्गह के बाँधे जाने के समय। उनने त्रसदस्यु, इद्र के समान वृत्रहता को इस पृथ्वी का अर्धदेव यज्ञ से बनाया॥

ध्वसन् द्वैतवन

इस मत्स्य (देश और जाति) के राजा ने अनुष्टुप्-सपन्न अश्वमेध किया। गाथा—

सग्रामों में जीतनेवाले द्वैतवन राजा ने चौदह घोड़े। वृत्रहा इद्र के लिये बाँधे इससे द्वैतवन सरोवर (का नाम पडा)॥

ऋषभ याज्ञतुर

श्विक्नो के इस राजा ने एक विशस्तोम अश्वमेध किया जैसा कि गाथा मे कहा है—

ऋषभ याज्ञतुर राजा के यज्ञ करने पर ब्राह्मण।
अश्वमेध में धन पाकर दक्षिणाएँ बाँटते थे॥

अत्यराति जानंतपि

वसिष्ठ गोत्री सत्यहव्य के पुत्र ऋषि ने जनतपि के पुत्र अत्यराति को ऐंद्र महाभिषेक सिखाया जिससे वह राजा न होकर भी

---

* ८वें मत्र मे।—सपादक।

अपनी विद्या से सब पृथ्वी को जीतता गया। तब सात्यहव्य वासिष्ठ ने उसे कहा "तैंने पृथ्वी (समुद्र-) तीर तक जीत ली, अब मुझे बड़प्पन को पहुँचा।" अत्यराति ने उत्तर दिया "ब्राह्मण, जब मैं उत्तरकुरु (तिब्बत ?) जीत लूँ तो तू ही राजा पृथ्वी का बन जाना। मैं तेरा सेनापति ही रहूँगा"। उत्तर मिला "वह तो देवक्षेत्र है, उसे मर्त्य कभी जीत नहीं सका; तैंने मेरे से द्रोह किया है, तो मैं (तेरा सारा विजय) तुझसे ले लेता हूँ।" यों वीर्य-रहित निस्तेज हो जाने पर जानतपि को अमित्रतपन शुष्मिण शिव्य के पुत्र राजा ने मार डाला।

महाभारत के षोडशराजकीय उपाख्यान (द्रोण पर्व और शांति पर्व) मे इन गाथाओ के टुकड़े कई जगह इन तथा और राजाओ के वर्णन मे भी आए है।

वाजपेय

असुर लोग इसी अभिमान के मारे, कि हम किसके लिये होम करे, अपने मुख में होम करते गए (=अपने इद्रियो की उपासना में लगे रहे), इसी अभिमान के कारण वे हार गए। देवता आपस में एक दूसरे के लिये होम करते रहे, इसलिये दोनो देवासुरो के पिता प्रजापति ने प्रसन्न होकर उन्हें यज्ञ दिया। इस पर उनमे आपस में "मैं लूँ"-"मैं लूँ" मची। अत को उन्होंने सोचा कि "दौड दौडे, जो जीते वही पावे।" सविता की प्रेरणा से बृहस्पति जीता। उसने सब कुछ पाया। और इद्र ने भी। इसी लिये यह ब्राह्मण क्षत्रिय दोनो का यज्ञ है। वाजपेय का शब्दार्थ 'बल का पीना', 'अन्न का पीना' व 'जीत का पीना' है। शरद ऋतु में ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय यह याग कर सकता है।

वस्तुत राजसूय राजा ही के लिये है, क्योंकि उससे राजा बनता है और ब्राह्मण राज्य के योग्य नहीं। राजसूय नीचा है, क्योंकि उसे करने से राजा होता है, वाजपेय ऊँचा, क्योकि उसे करने से सम्राट् हो जाता है। अवश्य ही राजा छोटा है क्योकि राजा सम्राट् होना चाहता है, सम्राट् बडा है क्योकि सम्राट् राजा होना नहीं चाहता। इसलिये कात्यायन कहता है कि जिस राजा ने वाजपेय न किया हो वह राजसूय करे, परतु आश्वलायन कहता है कि राजा वाजपेय करके राजसूय करे और ब्राह्मण वाजपेय करके

बृहस्पतिसव करे। कृष्ण यजु में वाजपेय को 'सम्राट्सव' और राजसूय को 'वरुणसव' कहा है। लाट्यायन श्रौतसूत्र में लिखा है कि जिसे ब्राह्मण या राजा मिलकर अपना प्रधान (मुख्य) चुनें उसे वाजपेय करना चाहिए।

वाजपेय सोमयाग के सात प्रकारों मे से एक है; बहुत सी बातें इसमे सोमयाग के समान है। पहले कई पखों तक सोम, ज्योतिष्टोम, पृष्ठ्य आदि यज्ञ होते रहते हैं। उनका यहाँ वर्णन करना आवश्यक नहीं। विशेष यह है कि जहाँ पर सोम बेचनेवाले से सोम खरीदा जाता है वहाँ पर बालोंवाले पुरुष (केशव = पढ) से परिस्रुत नाम की सुरा भी सीसे के बदले मे खरीदी जाती है। अध्वर्यु सत्रह कटोरे सोम के और नेष्टा (एक यज्ञ करानेवाला) सत्रह कटोरे सुरा के प्रजापति देवता के लिये लेता है। पहले उनको छुआते है, फिर बिलगाते हैं। यों करने से जैसे मूँज में से तूली पृथक् हो जाती है वैसे यजमान पाप से छूट जाता है।

"यदि वाजपेय से सब कुछ मिल जाता है तो पाने को क्या बाकी रहा, इससे तो यजमान की प्रजा (संतान) दुःखी होगी, क्योंकि उसे कुछ करने को न रहेगा" ऐसा तर्क नहीं करना चाहिए।

वाजपेय के पाँच कटोरे सोम के लिये जाते हैं और उन्हें चढ़ाया जाता है।

नीवार (= मोटे चावल) का पाक बृहस्पति के लिये होता है। उसके होम के पीछे गौ, वस्त्र, बकरी, भेड आदि सत्रह सत्रह देने

होते हैं और सत्रह सत्रह दासियाँ भी, जिनके गले मे चार चार (तोले ?) सोने के गहने (निष्क) हों। हाथी, लादे के पशु, बड़ी गाड़ियाँ, यहाँ तक कि जो कुछ दिया जाय सब की सख्या १७।१७ होनी चाहिए।

इसके पीछे मध्याह्न में

रथो की दौड़

नामक विचित्र कार्य होता है जो इस यज्ञ का प्रधान काम है।

अध्वर्यु "तू इद्र का वज्र है, तू धन का जीतनेवाला है, तुझसे यह यजमान धन पावे" यों कह कर रथ को अपनी जगह से उतारता है और जूडा पकडकर प्रदक्षिण घुमाता हुआ उसे चात्वाल (खड्ड) के दक्षिण की ओर वेदि के पास यह कहता हुआ रखता है कि "धन पाने मे हम बलवती माननीय माता अदिति को वचनो से सराहते है जिस पर यह सारा भुवन स्थित है। उसी पर सविता देव हमारे दृढ़ रहने को बढ़ती दे।" पानी पीने जाते हुए या पीकर लौटते हुए घोड़ो को इस मत्र से छींटता है कि "जल मे अमृत है, जल मे दवा है, जल की प्रशसा से ऐ तुम घोड़ो! वेगवान् और बलवान् बन जाओ। ऐ दिव्य जल, जो तुम्हारी ऊँची शिखरोवाली, धन देनेवाली, तेजी से आगे बढ़नेवाली लहर है उससे यह (यजमान) धन पावे।" पहले दहनी ओर के घोडे को यह कहकर रथ में जोडता है कि "वायु या मन या सत्ताईस गधर्व (=नक्षत्र) थे जिनने पहले पहल घोडे को जोडा और उसमें वेग धरा।" बाँए घोडे को यो

जोड़ता है—"घोड़े! जुड़कर वायु के समान वेगवाला हो जा, इन्द्र के दहने घोड़े की तरह अपनी श्री से हो जा, सब कुछ जाननेवाले मरुत् तुझे जोड़े, त्वष्टा तेरे पैरो में वेग रखे।" दहनी ओर एक अधिक घोडा जोड़े—"हे वाजिन्! जो तेरा वेग गुहा मे छिपा रखा है, जो बाज मे रखा जाकर वायु मे मँडलाता है, हे दौड़नेवाले! उसी बल से हमारे लिये बलवान् धन जीतनेवाला और युद्ध मे (अथवा देवो के इकट्ठे होने मे) पार पहुँचानेवाला हो।" पीछे पीछे एक चौथा घोडा बिना जोता हुआ कवि को (लगाम) पल्याण (काठी) आदि आवश्यक चीजें लेकर चलता है। यहाँ बृहस्पति के लिये एक सत्रह थालियों मे नीवार का पाक बनाकर अब अध्वर्यु अश्वों को बृहस्पति के यज्ञ का भाग सुँघाता है—"दौड की बाजी जीतने को चलनेवाले, धन जीतनेवाले, दौड़ की राह पर अन्न चलनेवाले घोड़े! बृहस्पति का भाग सूँघ ले।"

पीछे, वेदि के बाहर, सोलह चौकड़ी के रथ बिना मन्त्र के जोते जाते है।

आग्नीध्र के पश्चिम को, वेदि के सहारे, ऊँची खूँटियों पर १७ नगारे रखे जाते हैं।

चात्वाल (खड्डे) और अवकर (कचरे की ढेर) के बीच मे से उत्तर की ओर एक राजन्य खैंचकर तीर मारे। जहाँ वह जाकर पडे वहाँ से फिर तीर चलावे। यों सत्रह तीरो की फेंक (मार) की दूरी नापकर अंतिम स्थान मे उदुंबर की शाखा गाड़ी जाय। यह दौड़ का रास्ता होगा और यह शाखा पहुँचने की जगह (गोल)।

अपनी नाभि तक ऊँची लकडी के खभे पर अटके हुए रथ-चक्र पर ब्रह्मा यह कहकर चढ़ता है कि "सत्य प्रेरणा करनेवाले देव सविता की प्रेरणा से मैं बृहस्पति के सर्वोत्तम स्वर्ग को चढ़ जाऊँ।" यदि यजमान क्षत्रिय हो तो इस मत्र में बृहस्पति के स्थान में 'इंद्र' कहना चाहिए। ब्रह्मा वहीं खडा रहता है, क्योंकि उसका काम यह देखने का है कि काम ठीक ठीक हुआ या नहीं।

यजमान "सच्चे चलानेवाले देव सविता की प्रेरणा से, दौडों को जीतनेवाले बृहस्पति की बाजी को मैं जीतूँ" यह कहकर रथ पर चढे। उसी रथ पर, जिसके घोड़े मत्र पढ़ कर जोते गए थे, चुपचाप अध्वर्यु का ब्रह्मचारी वा विद्यार्थी भी पीछे मत्र बँचवाने के लिये चढ़ जाय। एक रथ मे राजन्य वा वैश्य सुरा का पात्र पकड़े रहने को बैठ जाय। बाकी रथों मे और लोग बिना मत्र बैठ जाँय। अब सब रथ होडाहोड़ी से बहुत तेज लक्ष्य की ओर चलते हैं। इस समय यजमान कहता है "बाजी जीतनेवाले, धन जीतनेवाले, मार्गों को व्याप्त करनेवाले और पडावों को नापने (बाँटने) वाले घोड़ो! जीतने के स्थान (काष्ठा) की ओर चलो।"

अब रथ-चक्र घुमाया जाता है और ऊपर बैठे बैठे ब्रह्मा वाजि-साम गाता है कि "अग्निमय घोड़ो ने सवितादेव की प्रेरणा पाकर तेज पाया है। दौड़ने वालो, तुम स्वर्ग को जीतो।"

रखे हुए नगारों मे से एक को "बृहस्पते! वाजी जीतो, बृहस्पति के लिये अपने शब्द उठाओ, बृहस्पति को बाजी जिताओ" कह कर बजाया जाता है। बाकी बिना मत्र बजाए जाते हैं।

यदि यजमान क्षत्रिय हो तो 'बृहस्पति' के स्थान मे 'इंद्र' कहना चाहिए।

जब दौड़ हो रही हो तब इन पाँच मंत्रो से होम करे या घोडो को संबोधन करे —

"गले मे, बगलो मे, और मुँह में बँधा हुआ भी यह वेगवान् घोड़ा चाबुक पर नई तेजी दिखाता है; सामर्थ्य के अनुसार खैंच कर दधिक्रा जीते। रास्ते के चक्करो मे बढ़ा जा रहा है। स्वाहा!" ॥१॥

"अपने लक्ष्य की ओर उड जानेवाले पक्षी की तरह इस तेज चलनेवाले, दौड़नेवाले, हवा मे झपटते हुए बाज के समान दधिक्रा की बगले, जैसे कि वह बल के साथ चढ़ता जाता है, पखा झलती हैं। स्वाहा!" ॥२॥

"हमारे यज्ञ में बुलाने पर, मधुरी मधुरी चाल चलनेवाले, अच्छे स्वरवाले अश्व हमे देवसभा मे शुभकारक हों। सॉंप भेड़िये और राक्षसों को निगल जाते हुए हमारे सब दु.खों को निकाल बाहर करें" ॥३॥

"बलवान्, प्रार्थना सुननेवाले, वेगवान्, तुली हुई चाल से चलनेवाले वे सब अश्व हमारी प्रार्थना सुने—वे सहस्रो जीतनेवाले, जहाँ यज्ञ-भाग मिले वहाँ जीतने के उत्सुक, जिनने दौड़ों मे बहुत धन पाया है" ॥४॥

"ऋत (सत्यधर्म) को खूब जाननेवाले, पंडित, अमर अश्वो! प्रत्येक धन लानेवाली बाजी मे हमे रक्षा (सहायता) करो। इस

मधु को पीओ, तृप्त हो, प्रसन्न हो, तृप्त होकर देवताओं के जाने के मार्गों से जाओ ॥५॥

इस दौड मे याग करनेवाला ही सबसे बढ़कर रहता है, मानों इस दौड़ में जीतना—तीन घोडो के रथ से चौकडीवालों को हराना--ही उसे आगे के कर्मों के योग्य बनाता है। अवश्य ही पुराने समय में यह 'सम्राट्' का पद चाहनेवाले की जाँच होगी। पीछे तो यह नियम हो गया होगा कि और सब लोग जान-बूझकर पीछे रह जायँ। इँगलैंड के राज्याभिषेक में कार्लाइल एक ऐसी ही घटना का उल्लेख करता है। वहाँ कवच से सज-सजाकर एक मनुष्य घोड़े पर चढ़ा हुआ आकर अपना दस्ताना फेंककर सबको चुनौती देता है कि "कोई इस राजा को राजा बनाने का विरोधी हो तो मुझसे लड ले।" अवश्य ही कोई उस दस्ताने को नहीं उठाता और उठा भी ले तो कौन सा वह हिमायती लड़ सकता है, क्योंकि उस पर कवच का भार इतना होता है कि वह घोडे पर उठाया जाकर लादा जाता है। परतु पुराने काल मे प्रत्येक राजा को अपने शत्रुओ को यो हाँक मार कर उनसे लडे विना सिहासन पर वैठने का अवसर नहीं मिलता होगा।

पहले रोपी हुई औदुम्बरी शाखा की प्रदक्षिणा करके सब लौटते हैं। उन सबके आ जाने पर ब्रह्मा रथ-चक्र से यह कहता हुआ उतरता है कि "सच्चे प्रेरणा करनेवाले देव सविता की प्रेरणा से मैं बृहस्पति के सर्वोच्च स्वर्ग को चढ गया हूँ।" यदि यजमान क्षत्रिय हो तो 'बृहस्पति' की जगह 'इन्द्र'।

जिस नगारे को मंत्र से वजाया था उसे तो नीचे लिखे मत्र से उतारे, वाकी को पीछे चुपचाप। "आपका एक साथ मिलकर वोलना सत्य हुआ, जिससे आपने वृहस्पति को वाजी जिता दी, वृहस्पति को आपने वाजी जिता दी। वन के पतियो, अव छूट जाओ।" यदि यजमान क्षत्रिय हो तो 'वृहस्पति' के स्थान मे 'इंद्र'।

यजमान रथ से उतरकर नीवार की खीर के भाँड़े को यह कह कर छुए—"मुझे धन का पूरा प्रसव आवे, नाना रूपोवाले पृथ्वी और आकाश मेरे पास आवें। माता पिता मेरे पास आवें, सोम मेरे पास अमृतत्व के साथ आवें।" मंत्र से जोडे हुए रथ के घोड़ो को वही खीर सुँघाता है कि "वेगवाले अश्वो! वाजी जीत लेनेवालो, दौड़ पूरी करके शुद्ध होकर भीतर ले जाते हुए वृहस्पति के भाग को सूँघो।" अव उस रथ में चौथा घोड़ा जोता जाता है और वह रथ अध्वर्यु को दे दिया जाता है। दूसरे रथ और और ऋत्विजो को।

दौड़नेवाले रथों मे से एक मे जो राजन्य या वैश्य वैठा था, और जो अव वेदि के उत्तर भाग मे होगा, उसे अध्वर्यु और यजमान प्रधान द्वार से जाकर मधु का पात्र हाथ मे देते हैं। नेष्ठा पीछे के द्वार से सुरा के कटोरे ले जाकर उससे उनके वदले में यह कहकर मधुपात्र लेता है कि "इसके वदले तुमसे वह (सोम) मोल लेता हूँ", क्योकि सोम तो सत्य, समृद्धि और प्रकाश है और सुरा मिथ्या, दुःख और अधकार है। वह मधुग्रह पात्र सहित ब्रह्मा को दिया जाता है, वह उसको जो चाहे सो करे, खाय, रख दे या फेक दे।

यहाँ पर स्रुव से घी लेकर मंत्रों के पाठ के साथ होम होता है। ये मंत्र 'आप्ति' कहाते हैं—

मित्र के लिये स्वाहा ॥ १ ॥

बडे अच्छे मित्र के लिये स्वाहा ॥ २ ॥

पीछे उत्पन्न हुए के लिये स्वाहा ॥ ३ ॥

क्रतु (कर्म के दृढ़ उद्देश्य) के लिये स्वाहा ॥ ४ ॥

वसु के लिये स्वाहा ॥ ५ ॥

दिनों के स्वामी के लिये स्वाहा ॥ ६ ॥

मुग्ध दिन (छिपे, घटते हुए) के लिये स्वाहा ॥ ७ ॥

विनाश होने वाले से उत्पन्न मुग्ध के लिये स्वाहा ॥ ८ ॥

अंत से उत्पन्न होने वाले विनाशी के लिये स्वाहा ॥ ९ ॥

भुवन से उत्पन्न अन्न के लिये स्वाहा ॥ १० ॥

भुवन के स्वामी के लिये स्वाहा ॥ ११ ॥

सब के अधिपति के लिये स्वाहा ॥ १२ ॥

इसके पीछे छ क्लृप्ति (संपन्न, कल्पित होना) होम होते हैं—

आयु यज्ञ से सफल (संपन्न) हो ॥ १ ॥

प्राण यज्ञ से सफल हो ॥ २ ॥

आँख यज्ञ से सफल हो ॥ ३ ॥

कान यज्ञ से सफल हो ॥ ४ ॥

पृष्ठ यज्ञ से सफल हो ॥ ५ ॥

यज्ञ यज्ञ से सफल हो ॥ ६ ॥

यजमान का स्वर् चढ़ना

नेष्टा यजमान की पत्नी को दीक्षा के वस्त्रों के ऊपर कुश का या रेशम का बना हुआ जाँघ तक का लहँगा (चण्डातक, दहर) पहना कर, अर्थात शरीर के अपवित्र भाग को पवित्र वस्तु से ढक कर, लाता है। यजमान की बैठक के पास ही उत्तर या दक्षिण को अठपहलू, पोला, सत्रह हाथ ऊँचा यूप खड़ा किया रहता है। वह सत्रह कपड़ों से लपेटा जाता है। उसके ऊपर ही ऊपर गेहूँ के आटे की एक ढँकनी रखी जाती है। पहले मनुष्य के भी बहुत बालोवाली खाल थी, देवताओ ने उसकी खाल निकाल कर गौ पर चढ़ा दी। अतएव मनुष्य प्रजापति के समान हो गया। जैसे पशुओं में सब से मुलायम (बिना बालों का) चमड़ा मनुष्य का है वैसे अन्नो में गेहूँ के भी मोटा तुष या छिलका नहीं होता। अतएव गेहूँ के आटे की ढँकनी मनुष्यो के राज्य की सीमा बताने को वहाँ लगाई जाती है। यूप के सहारे एक सीढ़ी रखी रहती है। उस पर चढ़ने के समय यजमान स्त्री को कहता है "जाये। आ, आकाश को चढ़ें।" वह उत्तर देती "चढ़ें"। दोनो चढ़ते हैं। जाया अपना अध है, जब तक मनुष्य उसे नहीं पाता तब तक फिर नहीं उपज सकता, अधूरा रहता है, उसे पाकर पूरा हो जाता है, फिर उत्पन्न हो सकता है। इससे यजमान चाहता है कि मैं पूरा पहुँचूँ। चढ़ते समय यजमान और उसकी पत्नी कहते हैं कि "हम प्रजापति की संतान हो गए।" ऊपर जाकर यजमान गेहूँ के आटे की ढँकनी को हाथ लगाता

है कि "हे देवो ! हमारा प्रकाश (स्वर्) को आ पहुँचे।" उससे भी अपना सिर ऊँचा उठाता है कि "अमृत हो गए।" वहीं से चारो दिशाओ और विदिशाओ को फिर फिरकर देखता है और कहता जाता है कि "तुम्हारा इंद्रियबल और मनुष्यत्व हमारे में हो, तुम्हारी बुद्धि हम में हो, तुम्हारी शक्तियाँ हम में हों।" अब उसकी प्रजाएँ पीपल के दोनो में ऊसर की मट्टी (खार) भर कर उसे देती हैं और वह उन्हें लेकर पृथ्वी की ओर देखकर कहता है कि "माता धरती को प्रणाम, माता धरती को प्रणाम।" अब वह अध्वर्यु के बिछाए हुए साड बकरे के चमड़े पर, जिस पर सोने का टुकड़ा रखा हो, या सोने की सँवारी भूमि पर, उतरता है। पहले वाजपेय-याजी कोई नहीं उतरता था, सीधा स्वर्ग को चढ़ जाता था। सबसे पहले 'औपावि जानश्रुतेय' उतरा था, तब से उतरने की चाल चली। उत्तर वेदि के पश्चिम को, आहवनीय अग्नि के पीछे, उदुंबर की लकड़ी की चौकी पर अध्वर्यु सांड बकरे का चमड़ा बिछाता है कि "यह तेरा राज्य है।" वही यजमान का हाथ पकडकर उस पर बिठाता है कि "तू शासक है, तू वश में करनेवाला है, तू दृढ़ तथा स्थिर है, तुझे कृषि के लिये, तुझे शाति और सुख के लिये, तुझे धन के लिये, तुझे हमारी पुष्टि के लिये।"

यहाँ पर नीवार के चरु का होम होता है। उदुंबर के पात्र में पानी, दूध और सत्रह प्रकार के अन्न मिलाते हैं, या जितने अन्न याद आवें उतने। उनमे से एक निकाल कर अलग करे। यजमान उस छोड़े हुए अन्न को जब तक श्वास रहे तब तक न खाय।

मनुष्य कौन है कि सब अन्न अपने लिये ले ले? प्रजापति का सब अन्न थोड़ा ही काम में आता है। इस मिले हुए पदार्थ से स्रुव से सात आहुति दे—

वाजप्रसवीय

प्राचीन काल में बल के फैलाव ने इस सोम राजा को ओषधियो और जल में आगे बढ़ाया था, हमारे लिये वे मधु से भरे हुए हों, हम राष्ट्र में अगुआ (पुरोहित) होकर जागते हुए रहें; स्वाहा ॥ १ ॥

सम्राट् बनकर बल के फैलाव ने इस स्वर्ग और सब लोकों पर विस्तार पाया, वह जाननेवाला देना न चाहनेवाले से दिलवा देता है, वह हमें बहुत वीरों की पूरी सख्या के सहित धन दे, स्वाहा ॥ २ ॥

अवश्य ही बल का फैलाव इन सब वर्तमान लोको मे सब ओर व्याप्त था, प्राचीन काल से राजा बल चहुँ ओर घूमता है जानता हुआ, प्रजा को और हमारी पुष्टि को बढ़ाता हुआ, स्वाहा ॥ ३ ॥

रक्षा के लिये प्रार्थना के लिये हम सोम राजा को, अग्नि को, आदित्यो को, विष्णु को, सूर्य को, ब्रह्मा को और बृहस्पति को ग्रहण करते हैं (सहारा लेते हैं); स्वाहा ॥ ४ ॥

अर्यमा, बृहस्पति और इंद्र को दान के लिये प्रेरणा कर; वाक्, विष्णु, सरस्वती और वेगवान् सविता को, स्वाहा ॥ ५ ॥

अग्नि। हमसे यहाँ प्रसन्न होकर बोल, हमारी ओर अच्छे मनवाला (सुमना) हो, सहस्रो जीतनेवाले वर हमें दे, तू तो धन देनेवाला है। ॥ ६ ॥

हमें अर्यमा, पूषा, बृहस्पति धन दें, देवी वाक् भी दे, स्वाहा ॥ ७ ॥

इससे यजमान उन देवताओं को प्रसन्न करता है जिनका अभिषेक हुआ है, क्योंकि राजा वही होता है जिसे और राजा मानें, न कि वह जिसे वे न मानें।

होम करने से जो बाकी बचे उससे अध्वर्यु यजमान का

अभिषेक

करता है—"प्रकाशमान सविता की प्रेरणा से अश्विनो की बाँह और पूषा के हाथो से, सरस्वती वाक् की (या सब देवताओं की) नियम करनेवाली सम्हाल में, अगुआपन मे, मै नियम के लिये तुझे सौपता हूँ। मैं बृहस्पति के साम्राज्य से तुझे, हे अमुक शर्मन् या अमुक वर्मन्, अभिषेक करता हूँ।" अध्वर्यु तीन बार उच्च स्वर से कहे "सम्राट् है यह अमुक शर्म्मा या अमुक वर्म्मा।" अभिषेक सिर के ऊपर सब ओर किया जाता है।

यहाँ पर सम्राट् नीचे लिखे मंत्रों का पाठ या उनसे

उज्जिति (= बड़ी जीत) होम

करता है—

अग्नि ने एकाक्षर (मत्र) से प्राण जीता, मैं उसे जीतूँ ॥ १ ॥

अश्विनो ने द्वयक्षर (मत्र) से दुपगे मनुष्य जीते, मैं उन्हें जीतूँ ॥२॥

विष्णु ने तीन अक्षरवाले से तीनो लोक जीते०—०॥ ३ ॥

सोम ने चार अक्षरवाले से चार पैर वाले पशु जीते०—० ॥ ४ ॥

पूषन् ने पचाक्षर से पाँच दिशाएँ जीतीं०—०॥ ५ ॥

सविता ने छ अक्षरवाले से छ ऋतु जीते०—० ॥ ६ ॥

मरुतों ने सप्ताक्षर से सात गँवई पशु (वैल, घोड़ा, भेड़ा, वकरा, खच्चर, गधा और मनुष्य) जीते०—०॥ ७ ॥

अष्टाक्षर से बृहस्पति ने गायत्री छंद जीता०—०॥ ८ ॥

नवाक्षर से मित्र ने त्रिवृत् स्तोम (ऋग्वेद ९। ११) जीता०—०॥९॥

वरुण ने दशाक्षर से विराज जीता०—०॥ १० ॥

इन्द्र ने एकादशाक्षर से त्रिष्टुभ् जीता०-०॥ ११ ॥

द्वादशाक्षर से सव देवो ने जगती०—०॥ १२ ॥

वसुओं ने तेरह अक्षरोंवाले से तेरह गुना स्तोम जीता०—०॥१३॥

रुद्र ने चौदह अक्षरवाले से चौदह गुना स्तोम०—०॥ १४ ॥

आदित्यो ने पंद्रह अक्षरवाले से पद्रह गुना स्तोम०—०॥ १५ ॥

अदिति ने सोलह अक्षरवाले से सोलह गुना स्तोम०—०॥ १६ ॥

प्रजापति ने सत्रह अक्षरवाले से सत्रह गुने स्तोम को जीता; उसे मैं जीतूँ ॥ १७ ॥

होम का शेष अन्न -जव यजमान और सव ऋत्विज् खा लें उसके (इड़ा) पीछे यजमान अपनी चौकी से उतरे। यूप के लपेटे हुए वस्त्र अध्वर्यु को दे दे। यजमान उसकी पत्नी और ऋत्विज् इस यज्ञ में गले में यजमान की दी हुई सोने की मालाएँ पहनते है। वह माला जिसने पहनी हो उसी के पास रह जाती है।

इसके अतिरिक्त इस वाजपेय यज्ञ के आदि, मध्य और अन्त में कई यज्ञ-सवंधी काम, कुछ सोमयाग के से और कुछ विशेष है। वे केवल याज्ञिकों ही को रोचक हो सकते हैं इसलिये यहाँ पर नहीं लिखे गए।

राजसूय

यह यज्ञ केवल क्षत्रिय (राजन्य) के करने का है; वह भी सा हो जिसने वाजपेय न किया हो। वाजपेय और राजसूय का संबध पहले दिखा चुके हैं।

पहले सहस्रदक्षिण, चार दीक्षावाला 'पवित्र' नामक सोमयाग करना होता है, जिसकी दीक्षा माघ शुक्ल पूर्णिमा के पीछे के यज्ञदिन अर्थात् फाल्गुन शुक्ल १ को होती है। नवमी को उसकी पूर्णाहुति होती है।

दशमी के दिन 'अनुमति' (=देवताओं की सम्मति या एक-वाक्यता) के लिये आठ कपालो (ठिकरो या मट्टी के तवो) पर पका हुआ पुरोडाश (रोट) चढ़ाया जाता है। जब उसके लिये चावल पीसे जा रहे हों तब 'शम्या' (रथ का जूडा) के पीछे पीसने की शिला के नीचे बिछाए हुए कृष्णाजिन पर जो कुछ टपके उसे स्रुव (होम के चमचे) में ले लिया जाय। दक्षिणाग्नि से एक आग का पलीता लेकर दक्षिण की ओर चले और जहाँ स्वय फटी भूमि या ऊसर मिले वहीं वह अग्नि रख कर उसमे अध्वर्यु उन टपके हुए चावलो का होम करे—"हे निऋ॑ति (=मृत्यु)! यह तेरा भाग है, इसे प्रसन्न होकर ले, स्वाहा।" पीछे लौट आवे, मुड कर न देखे। अब अनुमति का यज्ञ मामूली इष्टि की तरह

होता है, उसकी दक्षिणा वस्त्र है। मैत्रायणी संहिता मे निऋति के यज्ञ की दक्षिणा कोने पर फटा हुआ काला कपड़ा और अनुमति की दूध देनेवाली गौ लिखी है।

एकादशी को अग्नि और विष्णु के लिये याग होता है, दक्षिणा स्वर्ण; द्वादशी को अग्नि और सोम के लिये, दक्षिणा छोड़ा हुआ बैल, त्रयोदशी को इंद्र और अग्नि के लिये, दक्षिणा रथ खेंचनेवाला साढ; चतुर्दशी को नए धान का यज्ञ, दक्षिणा गौ।

फाल्गुन की पूर्णिमा को 'चातुर्मास्य' याग शुरू होते हैं। उस दिन 'वैश्वदेव', आषाढ़ की पूर्णिमा को 'वरुणप्रघास', कार्त्तिकी पूर्णिमा को 'साकमेधीय' होता है। चार चार महीने के नियम से दूसरी फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को 'शुनासीरीय' होना चाहिए, परन्तु यहाँ फाल्गुन शुक्ल १ को ही कर दिया जाता है।

उसी दिन—

पंचवातीय

नामक याग होता है। आहवनीय अग्नि को बखेर कर उसके पाँच ढेर लगाए जाते हैं। जिस जिस दिशा में वह ढेर हो उस उस के मंत्र से उसमें होम होता है—

अग्नि जिनका नेता है उन पूर्व मे बैठे देवताओ के लिये स्वाहा।

यम जिनका नेता है उन दक्षिण में बैठे देवताओ के लिये स्वाहा।

विश्वदेव जिनके नेता हैं उन पश्चिम मे बैठे देवताओं के लिये स्वाहा।

मित्रावरुण या मरुत् जिनके नेता हैं उन उत्तर में बैठे देवताओ के लिये स्वाहा।

सोम जिनका नेता है उन पूजनीय ऊपर बैठे हुए देवताओं के लिये स्वाहा।

फिर अग्नि समेट दी जाती है और उसमे पाँच होम किए जाते हैं जिनके मत्रों का अर्थ वही है, पर शब्दक्रम भिन्न है, जैसे "जो देव अग्निनेत्र पूर्व बैठे हैं उनके लिये स्वाहा" इत्यादि। इसकी दक्षिणा तीन घोडेवाला रथ होता है।

माध्यदिनो के उसी दिन और काण्वों के यहाँ द्वितीया को—

इंद्रतुरीय

यज्ञ होता है। उसमें अग्नि के लिये आठ ठिकरोवाला यव का (रोट), वरुण के लिये यव की खीर, रुद्र के लिये गवेधुक की खीर, और चौथे (इसी से यज्ञ का यह नाम पड़ा) इद्र के लिये बोझा ढोनेवाली गौ का दधि लिया जाता है। यज्ञ में जहाँ 'खीर' का उल्लेख हो वहाँ 'चरु' अर्थात् लपसी समझनी चाहिए। वही बोझा ढोनेवाली गौ ही इसमें दक्षिणा होती है।

द्वितीया के दिन 'पाप या शत्रु को सोंत बुहार कर दूर फेंकने का' यज्ञ—

अपामार्ग होम

होता है। अध्वर्यु पलाश या विककत की लकड़ी के स्रुव में अपामार्ग (औंधीझाड़ा) के चावल ले और

(=दक्षिणाग्नि) से यह कह कर पलीता उठावे

करनेवाली सेनाओं को दबा, बुरा चाहनेवालों को दूर फेंक; हे अजेय! अधर्मी शत्रुओं को जीत और यज्ञ करनेवाले में तेज धर।" उत्तर या पूर्व चलकर उसी अग्नि में होम करे कि "देव सविता की प्रेरणा में अश्विनो की बाँहो, पूषा के हाथों से और उपांशु (सोम का एक प्याला) के वीर्य से होम करता हूँ।" जिधर होम किया है उधर ही "राक्षस मारा गया, तुझे राक्षसो के वध के लिये" कह कर स्रुव को फेंक दे। "राक्षस को मार दिया है" कह कर बिना पीछे देखे लौट आवे।

यहाँ मैत्रायणो और तैत्तिरीयो की अनुमति, राका (=पूर्णिमा) सिनीवाली (=अमावास्या का वह भाग जब चाँद दीखे), कुहू (=अमावास्या का शेष जब चाँद बिल्कुल न हो) के लिये चरु और धाता के लिये बारह ठिकरोंवाला होता है।

उसी दिन 'तीन तीन देवता के मिले हुए होम' अर्थात्

त्रिषंयुक्त

होते हैं। पहले में अग्नि-विष्णु के लिये ग्यारह ठिकरों का, इन्द्र-विष्णु के लिये चरु और विष्णु के लिये चरु होता है। इसकी दक्षिणा बौना बैल। दूसरे में अग्नि-पूषा के लिये ग्यारह कपाल-वाला, इन्द्र-पूषा के लिये चरु, और पूषा के लिये चरु होता है, दक्षिणा श्याम-श्वेत बैल। तीसरे में अग्निसोम के लिये ग्यारह कपाल का, इंद्रसोम के लिये चरु और सोम के लिये चरु होता है। इसकी दक्षिणा बभ्रु रंग का बैल।

तृतीया के दिन वैश्वानर के लिये बारह कपाल वाला होता है, जिसकी दक्षिणा बैल है और वरुण के लिये यव की लपसी जिसकी दक्षिणा काला कपड़ा है। उसी दिन से राजसूय का विशेष और चमत्कारी एक काम

रत्नहोम

आरभ होता है। राष्ट्र में प्रधान ग्यारह पद (राजा के अग) होते हैं, जो जो उन पदों पर हैं वे नए राजा से आदर पाने योग्य होते हैं। अतएव एक एक करके उनके घर पर प्रति दिन खास देवता के लिये खास द्रव्य से होम होता है और उसकी दक्षिणा भी खास उसी पद के उपयुक्त है। यजमान भी अध्वर्यु के साथ अपने इन 'रत्नो' के घर जाता है। यो करने से राजा, जिसका अभिषेक होगा, उन रत्नो का 'प्रसूत' हो जाता है और उनको अपने से 'न हटने वाले' बनाता है।

(१) पहले दिन 'सेनापति' के घर में 'अग्नि अनीकवान् (=सेनावाला)' के लिये आठ कपालोंवाला होता है जिसकी दक्षिणा सोना है।

(२) दूसरे दिन 'पुरोहित (=अग्रणी ब्राह्मण) के घर में बृहस्पति (=देवों का पुरोहित)' के लिये चरु, दक्षिणा कृष्णपृष्ठ या श्वेतपृष्ठ बैल।

(३) स्वय 'यजमान' के घर में इंद्र (क्षत्र का दैव रूप) के लिये ग्यारह कपालोवाला, दक्षिणा बलिष्ठ बैल।

(४) चौथे दिन 'यजमान की महिषी' (पहल व्याही हुई बड़ी रानी) के यहाँ अदिति (=पृथ्वी, देवों की पत्नी) के लिये चरु, दक्षिणा दुधार गौ।

(५) पाँचवें दिन 'सूत' (=अश्वपोषक) चारण (पुराने आख्यानों को रखनेवाला) के यहाँ वरुण (वेग-प्रेरक) के लिये यव का चरु, दक्षिणा अश्व।

(६) छठे दिन 'ग्रामणी' (पटेल, वैश्यों का मुखिया महत्तर = मेहता) के यहाँ मरुत् (दैव प्रजा या विश्) के लिये सात कपालों-वाला; दक्षिणा चित्र वर्ण का बैल।

(७) सातवें दिन 'क्षत्ता' (प्रतीहार, दूत, जनाने का प्रबंध-कर्ता) के घर पर सविता (प्रेरक) के लिये आठ या बारह कपालों-वाला बनाया जाता है। श्वेत-रक्त भारवाहक बैल इसकी दक्षिणा है।

(८) आठवें दिन 'संग्रहीता सारथि' के यहाँ याग होता है। 'संग्रहीता' का अर्थ कोई कोई आचार्य 'कर वसूल करनेवाला' करते हैं। या तो संग्रहीता घोड़े जोड़नेवाला है और सारथि हाँकनेवाला—रथ के चलते समय दोनों 'वधुर' (कोच बक्स) पर दहने बाएँ खड़े रह जाते होंगे—अथवा 'सव्येष्ठि = बाएँ बैठनेवाला'। यह स्वयं रथस्वामी का नाम है, क्योंकि जिस रथ में केवल 'वधुर' पर दो की ही बैठक होती होगी वहाँ हाँकने के सुभीते के लिये सारथि दहने बैठता होगा और सरदार बाएँ। संग्रहीता और सव्येष्ठि प्राय एक ही अर्थ में मिलते हैं। अथवा

अध्वा (=रास्ते) के लिये होम होता है और दक्षिणा में स्नायु या अजगर-चर्म से लिपटा धनु, या मयूरपिच्छ और चमड़े की भाँती वाणों से भरी हुई और लाल पगडी मिलती है।

(१२) वारहवें दिन अर्थात् चतुर्दशी को राजा 'परिवित्ति' अर्थात् पति की छोडी अपुत्रा स्त्री के घर जाकर निर्ऋति (=अभाग्य, मृत्यु) के लिये काले धानों को नखों से छिलका उतार कर उनके चरु का कडछी से होम करता है कि "निर्ऋते, यह तेरा भाग है कृपा करके इसे ले।" दक्षिणा—काली, रोगिणी वुड्ढी गौ। उस स्त्री को कहता है कि (तुझ जैसी अभागी) मेरे राज्य में मत रह। वह किसी ब्राह्मण के घर चली जाती है जहाँ पर कि राजा का अधिकार नहीं चलता।

ये दक्षिणाएँ उन उन रत्नों को दी जाती हैं, मानो उन्हे नए राजा की ओर से तोहफे और अपने अपने काम मे लगे रहने के लिये खिलतें हैं।

उसी दिन सोम और रुद्र के लिये श्वेतवत्सा श्वेता गौ के दूध से चरु वनता है और वही गौ उसकी दक्षिणा है।

पूर्णिमा के दिन मित्र-बृहस्पति के लिये एक चरु होता है। अश्वत्थ की पूर्व या उत्तर की अपने आप टूटी हुई शाखा के पात्र से ढके पात्र में मोटे चावल बृहस्पति के लिये पकाए जाते हैं और उनकी भाफ से ऊपर के पात्र में उन्हीं में से वीने हुए वारीक और टूटे चावल मित्र के लिये वनते हैं। रथ के पिछवाड़े मशक में दूध भर के बाँधा जाय और रथ चलाया जाय तो रथ की

हलचल से स्वय जो घी बन जाता है वह मित्र के चरु में डाला जाता है।

इसके पीछे पद्रह दिन खाली ही बीतते हैं।

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को 'अभिषेचनीय' अर्थात् अभिषेक-सबधी सोमयाग आरभ होता है जो पाँच दिन रहता है। पहले दिन दीक्षा, तीन उपसद और एक सुत्या जिसमे उक्थ्य की तरह सोम निकाला जाता है। पहले दिन कुछ अग्नि और सोम के पशु-याग का अश करके

देवसू

अर्थात् तेज उत्पन्न करनेवाले या चेतानेवाले होम होते हैं—

(१) सविता सत्यप्रसव के लिये प्लाशुक अर्थात् काटे जाकर फिर उग आनेवाले धानों का द्वादश कपाल या अष्टाकपाल।

(२) अग्नि गृहपति के लिये आशु अर्थात् तीन पक्ष में पकने वाले धानों का अष्टाकपाल।

(३) सोम वनो के पति के लिये श्यामाक या बिना काँटे के कण (सौंका) का चरु।

(४) बृहस्पति वाक् (पति) के लिये नीवार अर्थात् जगली धान का चरु।

(५) इद्र ज्येष्ठ के लिये वर्ष भर में पकनेवाले लाल चावल, या अति ऊँचे उठकर पानी छोड़नेवाले (=हायन) धान का चरु।

(६) रुद्र पशुपति के लिये गवेधुक का चरु।

(७) मित्र सत्य के लिये नांब (अपने आप उगनेवाले) धान का चरु।

(८) वरुण धर्मपति के लिये यव का चरु।

अब अध्वर्यु यजमान का दहना हाथ पकड़ कर कहता है— "सविता तुझे सब उत्पत्तियों (या शासकों) पर राज्य के लिये उत्तेजित करे, अग्नि गृहस्थों पर; बृहस्पति वाणी के लिये, इंद्र बड़प्पन के लिये, रुद्र पशुओं के लिये, मित्र सत्य के लिये, वरुण धर्मपतियों (पर राज्य करने) के लिये।" और भी जोर से कहता है :—

"हे देवो, इसे उत्तेजित करो इस रीति से कि कोई इसका सपत्न (रकीब) न हो, बड़े क्षत्र के लिये, बड़े बड़प्पन के लिये, बड़े मनुष्यों पर राज्य के लिये, इंद्र के इंद्रिय (बल) के लिये। इसे (यहाँ राजा का नाम ले) अमुक (यहाँ पिता का नाम ले) के पुत्र को, अमुक (यहाँ माता का नाम ले) के पुत्र को, इस (यहाँ जाति का नाम ले) प्रजा के लिये। हे अमुक जाति-वालो! यह तुम्हारा राजा है। हम ब्राह्मणों का राजा सोम है।" यहाँ 'हे अमुक जातिवालो' की जगह भी जाति का नाम डालना होता है जैसे हे कुरुओ, हे पाचालो। तैत्तिरीय संहिता में अमुक की जगह पक्का पाठ ही है कि 'हे भरतो' और मैत्रायणी में पक्का पाठ है कि 'हे जनसमूह'।

धूप निकले हुए में बरसता पानी अधर में रोककर, 'सूर्य के से वर्चस्‌वाले हो'।

तलाब का जल, 'मोद देनेवाले हो'।

कुएँ का जल, 'गहरे ढकने में रहनेवाले हो'।

ओस (ठार) का जल, 'चाहने योग्य हो'।

मधु, 'सब से बलवान् हो'।

गौ के प्रसव के समय उल्ब के साथ निकलनेवाला जल, 'शक्तिवाले हो'।

दूध, 'मनुष्यो के पालनेवाले हो'।

घी, 'सब को पालनेवाले हो'।

सूर्य की किरणो से भाफ बनकर जो जल के परमाणु उठते हैं उन्हें अंजलि से ले लेकर इन सत्रह तरह के जलों में मिलावे—

"जल हो, स्वराज् हो, राष्ट्र देनेवाले, राष्ट्र मुझे दो, स्वाहा।

जल हो, स्वराज् हो, राष्ट्र देनेवाले, राष्ट्र अमुक को दो, स्वाहा।"

सरस्वती जल (पहले) और मरीचिजल (अठारहवें) में होम नहीं किया जाता। इन सब चित्र जलो की महिमा कही गई है, जैसे, अठारहवें में जलकण किसी के अधीन नहीं हैं इसलिये जिसका उनसे अभिषेक होता है वह स्वराट् हो जाता है, आठवें में, भँवर जल का गर्भ है इसलिये उनसे अभिषिक्त यजमान अपनी प्रजा का गर्भ हो जाता है।

इन सव को प्रत्येक के लिये मंत्र पढ़ पढ़कर, उदुंवर के पात्र में मिलावे कि "मधुवाली मधुवालियो से मिलें, क्षत्रिय के लिये वड़ा क्षत्र उत्पन्न करती हुई।" उस पात्र को मैत्रावरुण के आसन के पास रखे—"अपने स्थान में विना आक्रमण के, बल के साथ, वैठे रहो, क्षत्रिय के लिये वडा तेज धारण करते हुए।" पास ही अभिषेक के लिये पलाश, उदुंवर, वड़ की दाढ़ी और अश्वत्थ के पात्र विना मंत्र पढ़े रखे जाते हैं।

दुपहर के सोमपान के समय, महेंद्र के लिये सोम खेंचने के पहले, अध्वर्यु इन पात्रों के पूर्व व्याघ्रचर्म विछाता है, "सोम की चमक (सुंदरता) तू है, तेरी सी मेरी चमक हो।" सोम पीने से इंद्र व्याघ्र के समान हो गया था इससे व्याघ्रचर्म की चमक को सोम की चमक कहा गया। चर्म के पीछे सीसे का टुकड़ा रखा जाता है।

मनुष्यों में सवसे पहले 'वेन का पुत्र पृथु' ही अभिषिक्त हुआ। उसने चाहा कि सव अन्न मेरे हो जाँय तो वैसा ही हुआ। यहाँ तक कि जगल के पशुओं को भी उसके लिये वुला लिया करते थे कि 'अमुक पशु यहाँ आ जा, राजा तुझे पकाना चाहता है'। उस राजा के लिये ये वारह

पार्थ होम

किए गए थे, और जिस जानकार के यहाँ जानकार लोग ये होम करते हैं उसके भी सव अन्नाद्य आ जाता है। उनमें से छः यहाँ किए जाते हैं, छ अभिषेक के पीछे—

अग्नि के लिये स्वाहा।

सोम के लिये स्वाहा।

सविता के लिये स्वाहा।

सरस्वती के लिये स्वाहा।

पूषा के लिये स्वाहा।

बृहस्पति के लिये स्वाहा।

सोमयाग की विधि से कुशा के दो पवित्र या छानने बनाए जाते हैं और उनमें सोना बुना जाता है, "तुम दोनो छानने के पवित्र हो, विष्णु के।" उनमें होकर अभिषेक जल को छानता है, "सविता की प्रेरणा से मैं तुम्हें छानता हूँ अच्छिद्र (निर्दोष) पवित्र से, सूर्य के किरणों से, हे जल! वाणी के वधु, गर्मी से उत्पन्न, नहीं दबाया गया है तू, सोम का हिस्सा है, स्वाहा, राजा को उत्पन्न करनेवाला।"

छानकर जल को चारों अभिषेक-पात्रों में डालता है—"ये महिमावाले जल सुख मे भागी हैं साथ खेलनेवाले, नहीं धर्षण के योग्य, श्रमी, ढँकनेवाले। इन निवासो में वरुण ने अपना घर किया है, उस जल के पुत्र ने इन सर्वोत्तम माताओं के अंदर।"

वस्त्रधारण और शस्त्रधारण।

यजमान को 'क्षौम' या 'तार्प्य' (क्षुमा या तृपा घास का बुना हुआ रेशमी या सणिया वस्त्र, या बुनते समय तीन वार जल या घी पिलाया हुआ वस्त्र, या वल्कल, या तीन वार घी में भिगोया हुआ वस्त्र) पहनाता है कि "तू क्षत्र का उल्ब है।" उस पर यज्ञ-

पात्रों के चित्र सुई से काढ़े होते हैं। उस पर विना रँगी ऊन का 'पाडव कंवल' पहनाता है, "तू क्षत्र का जरायु है।" उस पर सब ढकनेवाला 'लंबा चोगा' पहनाता है, "तू क्षत्र की योनि है।" अब एक पगड़ी सिर पर लपेट कर उसके दोनों छोर कमर की मोरी में अथवा नाभि के पास ही खोंसता है कि "क्षत्र की नाभि है।" गर्भ में भी इसी भाँति उल्व, जरायु, योनि और नाभि के वेष्टन होते हैं, मानों क्षत्रिय अपने क्षत्र तेज का गर्भधारण कर रहा है।

अध्वर्यु धनुष को यह कह कर चढ़ाता है कि "यह इंद्र का वृत्र मारनेवाला भुज है।" धनुष की एक छोर को छूता है कि "तू मित्र का है" और दूसरी को, "तू वरुण का है।" फिर यजमान के हाथ में दे देता है, "तुझसे यह वृत्र को मारे।" अध्वर्यु तीन बाण उठाता है—एक को 'तू चीरनेवाला है', दूसरे को 'तू फाड़नेवाला है' तीसरे को 'तू शत्रु को कँपानेवाला (या चूकनेवाला) है' और यजमान के हाथ में उन्हें यह कह कर देता है कि "इसे सामने चलते हुए बचाओ, इसे पीछे चलते हुए बचाओ, इसे टेढ़े चलते हुए बचाओ, इसे सब दिशाओं से बचाओ।"

मालूम करना

अध्वर्यु स्वयं पढ़ता और यजमान से कहलाता है, "मनुष्यो यह तुमको विदित हो रहा है, अग्नि गृहपति को विदित है, बड़े यशवाले इंद्र को विदित कर दिया गया है, व्रत धारण करनेवाले मित्रावरुणों को विदित कर दिया गया है. सब पदार्थों के स्वामी पूषा को विदित

कर दिया गया है, सबको शुभ देनेवाले द्यौ और पृथ्वी को विदित कर दिया गया है, चौडा शरण देनेवाली अदिति को विदित कर दिया गया है।"

सदस् मे बैठे केशव (हींजडा--न पुरुष न स्त्री, मैत्रायणी के नाई) के मुँह में ताँबा (=लाल लोहा, न सोना न लोहा) डाल कर कहता है कि "काटनेवाले जीव शात कर दिए गए।"

दिग्विजय

यजमान की बाँह पकड कर अध्वर्यु उसे चारों ओर घुमाता है और प्रति दिशा मे कुछ पैंड चला चलाकर कहता है—

"प्राची को चढ। गायत्री छद, रथतर साम, त्रिवृत् स्तोम, वसत ऋतु और ब्रह्मरूपी धन तुझे रक्षा करें।

दक्षिण को चढ। त्रिष्टुप् छद, बृहत् साम, पचदश स्तोम, ग्रीष्म ऋतु और क्षत्ररूपी धन तुझे बचावें।

पश्चिम को चढ। जगती छद, वैरूप साम, सप्तदश स्तोम. वर्षा ऋतु और विश् रूपी धन तुझे बचावें।

उत्तर को चढ़। अनुष्टुप् छद, वैराज साम, एकविंश स्तोम, शरद् ऋतु और फलरूपी धन तुझे बचावें।

ऊपर को चढ। पक्ति छद, शाकर रैवत साम, सत्ताईस और तेतीस स्तोम, हेमत-शिशिर ऋतु और वर्चस् रूपी धन तुझे बचावे।"

व्याघ्रचर्म के नीचे जो सीसा रखा है उसे पैर से यजमान ठुकराता है—"नमुचि का शिर दूर फेंका गया।" नमुचि को इद्र ने मारा था।

अध्वर्यु इसके पीछे यजमान को व्याघ्रचर्म पर विठाता है—"सोम के समान प्रकाशवाला तू है।" यजमान कहता है, "मेरा प्रकाश तेरे जैसा हो।"

सोने का एक चाँद यजमान के पैरों के नीचे रखता है—"मृत्यु से बचा।"

यजमान सिर पर नौ छेद्वाला या सौ छेद्वाला सोने का भूषण पहन कर कहता है, "तू ओज है, तू जीत है, तू अमृत है।"

राजा बाँहें उठाकर पढ़ता है, "सोने के से रूपवाले! तुम दोनों बलवान् ऊषा के उगने पर उठते हो सूर्य की तरह; हे मित्र वरुण! अपने रथ पर चढ़ो और वहाँ से दिति और अदिति (सात और अनंत, सीमाबद्ध और असीम) को देखो", "तू मित्र है, तू वरुण है।"

अभिषेक

मनुष्य के दोनो हाथ मित्र और वरुण हैं और मनुष्य उनका रथ है। हाथ ऊँचे करके अभिषेक इसलिये कराया जाता है कि कहीं हाथों का क्षत्र तेज अभिषेक जल के सम्मिलित तेज से दब न जाय।

यजमान पूर्व की ओर मुँह किए खड़ा रहता है। अध्वर्यु या पुरोहित (ब्राह्मण) उसे पलाश के पात्र में रखे हुए जल से अभिषिक्त करता है—"तुझे सोम के तेज से अभिषिक्त करता हूँ, क्षत्रों का क्षत्रपति बढ़ता जा।"

उसके पीछे पीछे उदुंबर पात्र के जल से राजा का भाई उसका अभिषेक करता है—"तुझे अग्नि के तेज से अभिषिक्त करता हूँ, क्षत्रों का क्षत्रपति बढ़ता जा।"

पीछे न्यग्रोध (वड़ की दाढी) के पात्र से और राजवंशीय जो उसका मित्र होकर आया है राजा का अभिषेक करता है—"तुझे सूर्य के वर्चस् से अभिषिक्त करता हूँ, क्षत्रो का क्षत्रपति बढ़ता जा।" इसके बाद अश्वत्थ के पात्र से वैश्य उसका अभिषेक करता है—"तुझे इद्र क इद्रिय से अभिषिक्त करता हूँ, क्षत्रों का क्षत्रपति बढता जा।"

फिर सब मिलकर कहते हैं, "प्रकाशमान बाणो से इसकी रक्षा कर।"

अध्वर्यु उच्च स्वर से कहता है, "हे देवो। इसे उत्तेजित करो इस रीति से कि कोई इसका सपत्न (रकीब) न हो, बडे क्षत्र के लिये, बडे बडप्पन के लिये, बड़े मनुष्यो पर राज्य क लिये, इद्र के इद्रिय के लिये, इसे (यहाँ राजा का नाम ले) अमुक (यहाँ पिता का नाम ले) के पुत्र को, अमुक (यहाँ माता का नाम ले) के पुत्र को, इस (यहाँ जाति का नाम ले) प्रजा के लिये। हे अमुक (यहाँ जाति का नाम ले) जातिवालो, यह तुम्हारा राजा है, हम ब्राह्मणो का राजा सोम है।"

रअब बाकी के छ 'पार्थ होम' किए जाते

इद्र के लिये स्वाहा।

कोलाहल के लिये स्वाहा।

यश के लिये स्वाहा।

अश के लिये स्वाहा।

भग के लिये स्वाहा।

अर्यमा के लिये स्वाहा।

या तो इस जगह पर, या द्यूत के पीछे अध्वर्यु होता को कहता है कि "शुनःशेप की कथा कहो।" यह कथा पृथक् लेख में दी गई है।*

दीक्षित लोग सदा काले हरिण के सींग से खुजाते हैं। राजसूय-याजी भी दीक्षित होता है इसलिये अपने पास की खुजालनी उठाकर सिर पर से टपकते हुए अभिषेक-जल को पीठ पर लीपता हुआ पढ़ता है–

"बलवान् वृषभ पहाड की पीठ से नौकाएँ स्वयं चलती बढ़ी आ रही हैं, वे ऊपर की ओर मुखवाली को जाकर पीछे नीचे की ओर मुड़ती हैं और अहिर्बुध्न्य (गहरे का साँप) के पीछे चली जाती हैं।"

अब यजमान व्याघ्रचर्म पर तीन डग भरता है और कहता है कि "विष्णु का बाहरी पैंड भरना है, विष्णु का बाहरी पैंड है, विष्णु का पैंड है।"

जो जल अभिषेक से बचा है वह पलाश पात्र में रखकर यजमान अपने प्रियतम पुत्र को देता है कि "यह मेरा काम, मेरा वीर्य, मेरे पीछे मेरा पुत्र चलता हुआ रखे।" पुत्र पीछे से यजमान को छूता है और यजमान घर की आग में होम करता है, "प्रजापते। तुझे छोड़कर कोई नहीं दूसरा इन सृष्टि के विश्वरूपों के चहुँओर व्याप्त है। जिस कामना से हम तुझे बुलाते हैं वह हमें प्राप्त हो।

---

* दे० पृ० २१—संपादक।

यह अमुक का पिता है। अमुक इसका पिता है। हम धनो के स्वामी हो, स्वाहा।" 'यह' और 'इस' की जगह पुत्र का नाम और 'अमुक' की जगह पिता का नाम कहना चाहिए। जैसे दशरथ के अभिषेक के समय पहला वाक्य "राम दशरथ का पिता है" और दूसरा "दशरथ राम का पिता है" इस प्रकार कहा गया है।

बाकी जल को पलाश पात्र से आग्नीध्र अग्नि मे होमता है—"हे रुद्र! जो तेरा कर्मशील सबसे बड़ा नाम है, उसी मे तू होमा जाता है। तू घर मे होमा जाता है। स्वाहा।"

गौओं की जीत।

राजा को शस्त्र पहना कर सबको मालूम करना, उसे चारो ओर घुमाकर दिशाओं को चढ़ाना, और पीछे अभिषेक करना यही क्रम अब तक इँगलैंड की गद्दी पर बैठाने का है। अभिषेक के पीछे राजा ने विष्णु के डग भर कर धर्म की चाल चलने की प्रतिज्ञा कर ली है और अपने पीछे पुत्र के लिये जयकामना कर ली है। अब उसे अपने बल का प्रमाण देना चाहिए। उस समय के मनुष्य कागजी घोषणा-पत्रो को थोड़ा ही समझते थे। सभव है कि राजा मे वीर्य कुछ भी न हो, तो उस समय के नित्य झगड़ालू समय मे उसकी क्या चलती? वरुण का वीर्य अभिषेक होते ही नष्ट हो गया था, उसने उसे गौओं में पाया। ऐसे ही राजा भी शत्रु की गौएँ जीत लाकर प्रजा को सिद्ध करता है कि मैं असमर्थ नहीं हूँ, तुम्हारा उपकारक हूँ। उस समय धन की जाँच गौओ से ही

होती थी। जो अर्थ आजकल लखपती और करोड़पति का है वह उन दिनो 'सहस्रगु' आदि शब्दों का था। सभ्य समय के सबसे पहले धन पालतू पशु ही थे। अति प्राचीन काल में यह गौओ की लड़ाई और जीत सचमुच ही होती होगी, पीछे वाजपेय की दौड़ और इँगलैंड के कवचधारी हिमायती की तरह, आज कल के जनेऊ की काशीयात्रा की तरह, केवल रीति रह गई।

आहवनीय के उत्तर को किसी सजाति की सौ या अधिक गौ रखी जाती हैं। पास ही वह गाड़ा रहता है जिस पर होम का अग्नि रखा जाता है। यजमान वाजपेय की तरह रथ उतारे—"तू इंद्र का वज्र है।" धुरा पकड़ कर उसे घुमावे और वेदि के दक्षिण भाग मे लाकर उसे जोडे—"शासन करनेवाले मित्र-वरुण के निदेश से मैं जोड़ता हूँ।" "दृढ़ता के लिये, न डिगने के लिये, वल के लिये, मैं, न क्षय पानेवाला अर्जुन (=इंद्र) तुझ पर चढ़ता हूँ" यह कह कर रथ पर चढ़ता है। चार घोड़ो मे से दहने को हाँकता है—"मरुतों के वेग से, जीवित करने से तू जीत।"

कृष्णयजु के कल्पसूत्र से जान पड़ता है कि एक दूसरा राजन्य धनुष-बाण लेकर गौओ मे खड़ा रहता है, मानो वह गौओं का स्वामी है और उन्हे बचाने को आया है। राजसूययाजी उस पर बाण छोड़ता है कि "मन को जीता" और प्रदक्षिण रथ घुमाकर कहता है कि "मुझसे वल और ऊर्ज।"

गौओ के बीच मे जाकर रथ को रोकता है, "मन से हम पावें।" धनुष की एक छोर से एक गौ को छूता है—"वल से मिलकर हम

जीते हैं, इन्हें मैंने जीता, इन्हें मैंने अपना किया।" फिर जितनी गौएँ जीती हैं उतनी या उससे अधिक उनके स्वामी को देकर अपनी क्रूरता को धोता है, क्योंकि आर्य राजा जीतकर फिर उसी मनुष्य को अपने स्थान पर अपने नीचे दृढ़ कर दिया करते थे।

यूप के सामने होकर निकलता है—"हे बलवानों के जीतनेवाले इद्र! हम ब्रह्म के न होने से तुझे पाने के अयोग्य न हो जाँय। हे वज्रहस्त! तू रथ पर चढ, जिसे तू वश करता है और जिसकी प्रशस्त घोड़ोंवाली बागो को।" लौट कर सदस् के पास रथ रोकता है। अब रथ खोलता है और रथ का जो जो भाग जिस देवता का है उसे उसके लिये होम करता है—

गृह के पति अग्नि के लिये स्वाहा (बम और जूडा)।

वन के पति सोम के लिये स्वाहा (चक्र और लकडी का सामान)।

मरुतो के तेज के लिये स्वाहा (घोडे और सव्येष्ठा और सारथि)।

इद्र के प्रशस्त बल के लिये स्वाहा (स्वामी)।

ये 'रथविमोचनीय' होम कहलाते हैं।

"पशुओं का रस है" यो कहकर सूअर के चमडे के जूते पहनता है और गहने भी। फिर पृथ्वी को संबोधन करके कहता है, "माता धरती, तू मुझे न हिंसा कर, मैं तुझे न हिंसा करूँ।" यो कहने से उसके और पृथ्वी के बीच में पुत्र और माता का सबध स्थापित हो जाता है जिससे कोई भी दूसरे का अपकार न

करे। अब रथ से उतरता है– "जल से, गौओं से, सत्य से और पर्वत से उत्पन्न हंस, प्रकाश मे बैठा हुआ, वसु अंतरिक्ष मे बैठा हुआ, होता वेदि में बैठा हुआ, अच्छे स्थानो में बैठा, मनुष्यो मे बैठा, सत्य में बैठा, वही परम सत्य है।"

सारथि साथ न उतरे, रथ अपने स्थान पर टाँग दिया जाय, वहाँ से वह कूद पड़े।

मैत्रायणीयों के यहाँ यजमान अपना धनुष यह कह कर पत्नी को देता है कि "यह (वज्र सबसे बड़ा बल देनेवाला है, इससे हमारा पुत्र वाज (वाजी) को जीते।"

यजमान रथ खड़ा रखने के आधार पर उसके पिछले दहिने पहिए से सौ सौ रत्ती के सोने के दो चाँद बाँधता है और पहिए की लीक में उदुंबर की शाख रखता है। पहले चाँद को छूता है—"इतना है तू, तू आयु है, मुझे आयु दे", दूसरे को "तू जोड़ा है, तू वर्चस् है, मुझमे वर्चस् रख।" उन्हें ब्रह्मा को देता है और उदुंवर शाखा को छूता है—"तू ऊर्ज है, मुझमे ऊर्ज रख।"

अध्वर्यु यजमान के दोनो हाथो को व्याघ्रचर्म पर रखी हुई दही की कूँड़ी में डुबोता है–'इंद्र के तुम दोनो वीर्य करनेवाले हाथो को मैं नीचे खैंचता हूँ।" फिर उसे धनुष-बाण सौंप देता है। उस दही को होम में कार्य में लाते है। बीच ही में

सिंहासन पर विराजना

होता है। व्याघ्रचर्म पर खदिर की चौकी (पीढ़ी) रस्सियो से विरली बुनी हुई या चमड़े की बधड़ी (तसमो) से बुनी हुई,

(भारतों के यहाँ) रखी जाती है—"तू अच्छी बैठक है, सुख से बैठने की है।" उस पर बिछावन की जाती है—"क्षत्र की योनि है।" अध्वर्यु यजमान को बिठाता है—"अच्छी बैठक पर बैठ, सुख से बैठने की पर बैठ, क्षत्र की योनि पर बैठ।"

ढिँढोरा

यजमान के हृदय पर हाथ रखकर अध्वर्यु कहता है—

"बैठ गया है व्रत धारण करनेवाला वरुण प्रजा के निवासों में।"

"साम्राज्य के लिये सुकर्मा।"

इसमें 'व्रत धारण करनेवाला' यों कहा गया है कि राजा जो चाहे सो बोल नहीं सकता और जो चाहे वह कर नहीं सकता, जैसे अप्रामाणिक आदमी या अव्रत राजा कर सकता है। वह वही बोले जो ठीक है, वही करे जो ठीक है। इससे श्रोत्रिय और राजा धृतव्रत कहे जाते हैं।

द्यूत वा जूआ

अध्वर्यु पाँच पासे हाथ में लेकर राजा के हाथ में देता है कि "तू सबके ऊपर स्वामी है, ये पाँच दिशाएँ तेरे अधीन हों।" मैत्रायणी के अनुसार सौ पासे राजा को सौंप दिए जाते हैं क्योंकि पुरुष की आयु सौ वर्ष की होती है। और चार सौ राजा के सामने फेंके जाते हैं कि "खुला राजा का।" फिर उनमें से पाँच उसे दिए जाते हैं। तैत्तिरीयों के यहाँ हजार सोने के पासे फेंक कर उनमें से पाँच दिशाओं के प्रतिनिधि पाँच देने की चाल है।

ये पासे या तो विभीतक (बहेड़ा) के फल होते थे, या सोने के वैसे ही बनते थे और उन पर अंक लिखे होते थे।

अध्वर्यु अब चुपचाप यज्ञकाष्ठों से राजा को पीटते हैं जिससे वह फिर कभी 'मार न खाय' क्योंकि राजा अदंड्य होता है।

अब 'रत्न' राजा को घेरकर बैठ जाते हैं और राजा के और अध्वर्यु के यह बातचीत होती है जिससे राजा अपना स्वरूप जान लेता है—

राजा—ब्रह्मन्!

अध्वर्यु–तू ब्रह्मा है, तू सत्य प्रेरणा करनेवाला सविता है।

राजा–ब्रह्मन्!

अध्वर्यु–तू ब्रह्मा है, तू सत्य बलवाला वरुण है।

राजा–ब्रह्मन्!

अध्वर्यु–तू ब्रह्मा है, तू प्रजाओं के बलवाला इंद्र है।

राजा–ब्रह्मन्!

अध्वर्यु–तू ब्रह्मा है, तू अच्छा कृपालु रुद्र है।

राजा—ब्रह्मन्!

अध्वर्यु—तू ब्रह्मा है।

अब राजा अपनी प्रजाओं को कहता है, "हे बहुत करनेवाले, हे अधिक भला करनेवाले, हे फिर फिर करनेवाले!"

पुरोहित वा अध्वर्यु यजमान को लकड़ी की तलवार 'स्फ्य' देता है—"तू इंद्र का वज्र है, उससे अब मेरी आराधना कर।" राजा यही कह कर अपने भाई को दे देता है। वह इसी मंत्र से सूत को

या गाँव के मुखिया (थवई—स्थपति) को। वह वैसे ही कह कर वैश्यो के महत्तर (महताजी या पटेल) को। वह भी उसे भायेत (सजात, जमींदार = कृषक) को। ये सब अपने अपने अधिकार के नियम को समझ जाते हैं।

उसी खड्ग से पूर्वाग्नि के पास द्यूतभूमि मत्रो से बनाई जाती है और उसमें एक चँदुआ (= विमित) खडा किया जाता है। जुए के मैदान में सोना रख कर चार चमचों के घी से अध्वर्यु होमता है—

"अग्नि बडा, धर्म का पति, प्रसन्न
अग्नि बडा, धर्म का पति, घी को स्वीकार करे, स्वाहा।"

यह कह कर पासे फेंके जाते है कि "स्वाहा से पवित्र किए गए हो, तुम सूर्य की किरणो के साथ अपने भाइयो में सब से श्रेष्ठ स्थान पाने के लिये यत्न करो", क्योंकि जिसका दाव आवेगा वही सब मे श्रेष्ठ होगा।

अध्वर्यु कहता है कि "गौ (की बाजी लगा कर उस) का जुआ करो।" यह जुआ यजमान के भाग्य की परीक्षा के लिये है। अतएव पासे यों फेंके जाते हैं कि सबसे अच्छा दाव राजा का आवे और 'सुन्न' विचारे सजात का आवे जिसकी गौ है।

ऋग्वेद मे एक तिरेपन पासो के खेल का वर्णन है। छांदोग्य उपनिषद् मे रैक के बड़भागी होने की यो उपमा दी है कि जैसे 'कृत की जीत मे सब हार जाते हैं वैसे सब उसका भला ही भला होता है।' जिस विभीतक पर '१' लिखा होता था वह 'कलि'

कहलाता था और २, ३, ४ अंकवाले पासे क्रमशः 'द्वापर', 'त्रेता' और 'कृत' कहलाते थे। यदि और सब पासे एकसे पड़ते (चित या पट) और कलि उनसे विपरीत होता तो कलि जीतता, परन्तु यदि औरो की तरह ही पड़ता तो कृत (सब से बड़ा अंक) जीतता। शुनःशेप की कथा मे एक श्लोक पर ध्यान दीजिए। अनुमान होता है कि खेल ऐसा ही होता होगा। यही नाम पीछे चलकर युगों के पड़ गए हैं। यहाँ राजा को जिताना ठहरा इससे उसके कृत आता और सजात के कलि। अब सजात की गौ जीती जाने से 'मारी गई' और वह सभासदों को दी जाती है। (महाभाष्य पातजल २।३।६०–"गामस्य तदह. सभाया दीव्येयु." और कापिष्ठल संहिता–"गा घ्नंति = गा विदीव्यंति = गा सभासद्भ्य उपहरति।")

कुछ याज्ञिक काम होकर अध्वर्यु के यह कहने पर कि "स्तोम (प्रार्थना) को जाओ" यजमान आसनी से उठकर चला जाता है।

दाशपेय

अभिषेक के दसवें दिन सोम के दस प्याले होते हैं जिनके लिये सोम अभिषेक के सोम के साथ ही खरीद लिया गया था। यजमान और नौ ऋत्विक्, ये दस, एक एक प्याले की ओर एक एक कमर झुकाकर रेंगते है। परन्तु रेंगने के समय उन्हें अपने दादा से लेकर पहले, पीछे की ओर, दस ऐसे पुरखाओ का नाम लेना पड़ता है जो सोमयाजी रहे हो। ऐसे बड़भागी विरले होते हैं, जिनके दस दस पूर्वज सोमपीथी हुए हों। रेंगने का मंत्र यह है—

"सविता प्रेरणा करनेवाले से, सरस्वती वाणी से, त्वष्टा बनाए हुए रूपों से, पूषा पशुओं से, इस (यजमान) इंद्र से, बृहस्पति ब्रह्म से, वरुण ओज से, अग्नि तेज से, सोम राजा से, विष्णु दसवीं देवता से प्रेरित होकर मैं रेंगता हूँ।"

वहाँ एक एक प्याले में दस दस पीनेवाले होते हैं—एक ऋत्विक् और नौ और। यों सौ जने पीते हैं। यजमान के पात्र में साथ पीनेवाले चाहे क्षत्रिय हो चाहे ब्राह्मण। यजमान सब को कमल या सोने के कमलों की माला पहनाता है।

दक्षिणाएँ

ब्रह्मा को बारह गर्भिणी गौ, उद्गाता को सोने की माला, होता को सोने का चाँद, अध्वर्यु को सोने के दो दर्पण, प्रस्तोता को घोड़ा, मैत्रावरुण को बाँझ गौ, ब्राह्मणाच्छंशी को भार-वाहक बैल, नेष्टा पोता को दो वस्त्र, अच्छावाक् को यव से भरी हुई एक बैल की गाडी, और आग्नीध्र को बैल।

प्रयुग्हवि

राजसूय-याजी वर्ष भर तक प्रति मास 'जोड़े के हवि' से होम करता रहे। छ महीने का साथ भी कर लेते हैं, जैसे 'कुरु-पंचाल के राजा शिशिर ऋतु के पीछे रथ जोडकर पूर्व के उपजाऊ देशों पर चढ़ जाते और वर्षा के पहले घर लौट आते।' अतएव वे कहा करते, "ऋतु जूडे में जुड़े हुए हमे वहते हैं और जुडी हुई ऋतुओं के पीछे पीछे हम चलते हैं।"

केशवपनीय

राजसूय-याजी वर्ष भर तक बाल न कटवावे। उसके पीछे केशवपनीय इष्टि करके, फिर बाल कटवा लिया करे, मुँड़वावे नहीं। न कभी उसे पृथ्वी पर नंगे पैर चलना उचित है। वह सदा जूते पहने रहे ताकि सब लोगों से ऊँचा रहे।

(शुक्ल यजुर्वेदसंहिता अध्याय ९।१०; मैत्रायणी संहिता २।६, ४।३; शतपथ ब्राह्मण ५।२-५; कात्यायन श्रौतसूत्र १५ प्रभृति।)

सौत्रामणी का अभिषेक

सौत्रामणी अथवा सुत्रामा (अच्छा बचानेवाला = इंद्र) का यज्ञ राजसूय के पीछे ही किया जाता है। गौरीवीति शाक्य और श्विक्नो के राजा ऋषभ याज्ञतुर ने इसके अभिषेक की बहुत प्रशसा की है। उदु बर की बनी हुई घुटनो भर ऊँची एक आसनी बिछाई जाती है—"तू क्षत्र की योनि है, तू क्षत्र की नाभि है।" यह बेत की बुनी होती है और इसके दो पैाए उत्तर वेदि में और दो दक्षिण वेदि में रखे जाते हैं। उस पर काले मृग का चर्म बिछाया जाता है जिसके बाल ऊपर को हो—"यह तुझको हानि न पहुँचाए, यह मुझको हानि न पहुँचाए।" उस पर यजमान बैठता है—

"बैठा धृतव्रत होके वरुण प्रजा निवासों में।
साम्राज्य के लिये सुकर्मा ॥"

अपने बाएँ पैर के नीचे चाँदी का चाँद रखता है—"मुझे मौत से बचा।" सिर पर या दहने पाँव के नीचे सोने का चाँद रखता है—"मुझे बिजली से बचा।"

३२ खुरो के प्यालो से वसा का होम किया जाता है—"प्राज्ञों ने ऊन, सीसे और तागे तथा मन से कवियो ने यज्ञरूपी जाला बुना, अश्विन्, सविता, सरस्वती और वरुण ने इंद्र के रूप की चिकित्सा की।" बाकी बची वसा को बेत के बुने हुए प्याले मे लेते हैं। यजमान के सारे शरीर पर सब सुगधित वस्तुओ का

उवटन करते हैं। चौतरफ घूमकर अभिषेक यों किया जाता है कि वसा मुँह तक वहकर आ जावे—

"तुझे देव सविता की प्रेरणा से, अश्विनों की वाँह से, पूषा के हाथ से, अश्विनो की चिकित्सा से तेज और ब्रह्मवर्चस् के लिये अभिषिक्त करता हूँ। ०सरस्वती की चिकित्सा से वीर्य और अन्न के लिये ०। ० इंद्र के इंद्रिय से वल और श्री के लिये अभिषेक करता हूँ।"

अध्वर्यु यजमान को छूता है—"तू क (प्रजापति) है, सव से अच्छा क है, तुझ क को क (ऐश्वर्य) के लिये।" यजमान अपनी प्रजा को सवोधन करता है—"हे अच्छे यशवाले। हे सुमंगल! हे सत्य राजावाले!"

यजमान अपने प्रत्येक अंग को हाथ लगा लगाकर कहता है— "मेरा सिर श्री हो, मुख यश हो, केश और मूँछ प्रकाशमान हो। मेरा प्राण राजा और अमृत हो, आँख सम्राट् और कान विराट् हों। जीभ मेरा मंगल हो, शब्द महिमा हो, मन क्रोध हो, मेरा गुस्सा स्वतंत्र हो, अँगुली मोद हों, अंग प्रमोद हों, पराक्रम मेरा मित्र हो, वाहु मेरे वल हो, इंद्र के सदृश, मेरे हाथ वीर्यकर्म हो, मेरी आत्मा और छाती क्षत्रिय तेज हों। मेरी पसलियाँ, पेट, कधे राष्ट्र हों, गरदन, पुट्ठे, जाँघ, कव्जे, घुटने और सव ही अग मेरी प्रजा हों, सव तरफ। नाभि मेरा चित्त हो, वैठक मेरी विज्ञान हो। इंद्रिय मेरा आनंद और सौभाग्य हो। जाँघों से और पैरों से मैं धर्म हूँ, प्रजा मे राजा प्रतिष्ठित।"

नौकर यजमान की आसन्दी को पहले घुटनों तक उठाते हैं, फिर नाभि तक और फिर मुँह तक, फिर उसे नीचे रख देते हैं।

यजमान उतरकर पढ़ता है, "मैं क्षत्र मे प्रतिष्ठित होता हूँ और राष्ट्र मे, मैं अश्वो में प्रतिष्ठित होता हूँ और गौओं में, अगों मे प्रतिष्ठित होता हूँ और आत्मा में, प्राणो में, द्यावापृथिवी मे और यज्ञ मे प्रतिष्ठित होता हूँ।"

(शुक्ल यजुर्वेदसहिता अध्याय २०, शतपथ ब्राह्मण १२।८, कात्यायन श्रौतसूत्र १९।४ प्रभृति।)

अश्वमेध

अश्वमेध बड़ा भारी यज्ञ है। इसे केवल चक्रवर्ती ही कर सकता है। इसमें सहस्रों की दक्षिणा है और सैकड़ो पशुओं का याग है। कितनी बातें तो ऐसी हैं कि जिन्हें सर्वसाधारण रीति पर लिखने से कई कल्पनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। आज उस यज्ञ की केवल दो बातें लिखी जायँगी, यजमान का यशगान और घोड़े की रक्षा का प्रबंध, और पारिप्लव उपाख्यान।

इसमें वर्ष भर तक यजमान का यश गाने के लिये दो वीणा बजानेवाले रखे जाते हैं क्योंकि वीणा श्री का रूप है। जब श्री आती है तभी तो वह खड़काई जाती है। एक ब्राह्मण होता है जो दिन को गाता है और दूसरा क्षत्रिय जो रात्रि को। ब्राह्मण यह गाता है कि "इसने यह यज्ञ किया, यह दान दिया" और क्षत्रिय यह गाता है कि "यह लडाई लड़ी या यह संग्राम जीता।"

घोडा वेगवान्, हजार गैा के मूल्यवाला, युवा होना चाहिए जिससे अच्छा जूडे की दहनी ओर कभी न लगा हो। उसका अगला भाग काला, पिछला श्वेत और सामने ललाट पर कृत्तिका नक्षत्र के गाड़े के से छींटे हों। जब घोड़े को निल्हाते हैं तो एक चार आँखोंवाला कुत्ता (जिसकी आँखों पर दो पीली पीली टिकलियाँ होती हैं) सिध्रक के मूसल से मारकर उसके नीचे तराते हैं। जब तक घोड़े के बदन से पानी चूता रहे तब तक होम करते हैं।

जब 'प्रयाज' नामक यज्ञ होते रहते हैं तब ब्राह्मण वीणागाथी उत्तर-मंद्र सुर छेड़कर उसमें यजमान के यश की तीन अपनी बनाई गाथा गाता और बजाता है कि "यह दिया, यह यजा" और रात को 'धृति' नाम यज्ञो के समय राजन्य भी वीणा पर उत्तर-मंद्रा में तीन अपनी बनाई गाथाएँ गाता है कि "यह लडा, यह जीता।"

घोड़े के रखवाले सौ राजपुत्र कवचधारी, सौ राजन्यों के पुत्र खड्गधारी, सौ सूत और ग्रामणियो के पुत्र बाणो के तरकस लिए हुए और सौ क्षत्ता और सग्रहीताओं के पुत्र लट्ठ लिए हुए और सौ थके बुड्ढे घोड़े होते हैं जिनके साथ से घोड़ा बहुत दूर न चला जाय। यजमान उन्हें कहता है कि "हे दिशाओ के रक्षको, इसे सम्हालो। यदि तुम यज्ञ को पूर्ण करा दोगे तो तुम्हें राजभाग, राष्ट्र मिलेगा, तुम राजा होओगे, तुम अभिषेक-योग्य होओगे, यदि नहीं तो राजभाग से रहित राज्य के अनधिकारी, राजन्य या वैश्य, अभिषेक के अयोग्य, बन जाओगे। इसलिये प्रमाद न करो। स्नान के पानी से इसे बचाओ, घोड़ियो से बचाओ। जो तुम्हें ब्राह्मण मिले उससे पूछो—कि "तुम अश्वमेध का कितना भाग जानते हो। यदि न जानता हो तो उसे लूट लो। क्योकि अश्वमेध सब कुछ है, जो उसे नहीं जानता वह लूट लेने योग्य है। घोड़े को पानी पिलाओ, चारा चराओ। जो कुछ राज्य में पका पकाया होगा वह तुम्हे मिलेगा। गाँव गाँव में रथकार के घर में रहना, क्योंकि वही तुम्हारा विश्रामस्थल है।"

घोड़ा छोड़कर वेदि के दक्षिण को अध्वर्यु एक सुनहरी (जरी के काम की ?) गद्दी (कशिपु) बिछाता है। उस पर होता बैठता है। उसके दहने सोने की एक कुर्सी (=कूर्च, पैावेदार आसनी) या सोने के पट्टे (=फलक) पर यजमान बैठ जाता है। उसके पुत्र मन्त्री सब दरबार लगाए उसके पास बैठे रहते हैं। उसके दाहिने ब्रह्मा और उद्गाता सुनहली गद्दियो पर और उनके सामने पश्चिमाभिमुख अध्वर्यु सोने की कुर्सी या पट्टे पर बैठ जाता है।

अध्वर्यु होता को कहता है, "होत: ! सब भूतो (जीवधारियो) का उपाख्यान कर, इस यजमान को सब भूतों से ऊपर उठा।" अब होता जो आख्यान आरंभ करता है वह दस दिन तक चलता है। प्रति दिन एक जीवधारियो के समूह की व्याख्या की जाती है। यों दस दिन पीछे फिर वही उपाख्यान आरंभ से चलाया जाता है। वर्ष भर में ३६ वार (१०×३६=३६०) यह उपाख्यान कहा जाता है। यह अवसर मानो घोड़े के घूमने का और उसकी प्रतीक्षा का है। उपाख्यान का नाम

पारिप्लव

या फिर फिर पलट कहानी है। सारी प्रजा, स्त्री और पुरुष, युवा और वृद्ध ऊँच और नीच आ इकट्ठे होते हैं। वीणा बजाने-वालों के झुंडों के झुंड आ जुटते हैं। कोई तूँवी की, कोई तीन ताँत की, कोई सात और कोई सैा ताँत की वीणा लिए होते हैं।

पहले दिन

होता आरंभ करता है—"अध्वर्यो !" वह उत्तर देता है—"ह वै होत' (=हाँ भाई होता) !" और उपाख्यान के बीच में "ओं होत !" "तथा होत" "होयि होत" यों कहकर हुँकारा देता जाता है। "विवस्वत् का पुत्र मनु राजा, उसकी प्रजा मनुष्य हैं, वे ये बैठे हुए हैं" यों कहकर उनकी ओर इशारा करता है जो गृहस्थ वहाँ इकट्ठे हैं, नित्य यज्ञ आदि करते हैं, परंतु वेद पढे हुए (श्रोत्रिय) नहीं हैं। "ऋग्वेद इनका विज्ञान है, सो यह है" यो कहकर ऋक् के सूक्त की व्याख्या करता हुआ सा दौडे। अर्थात्, मनु वैवस्वत का इतिहास सुनावे और ऋग्वेद के सूक्त नियम से पढ़े। जो वीणावालों के जत्थे इकट्ठे होते हैं उन्हें अध्वर्यु कहता है, "वीणागणगिओ! इस यजमान को पुराने साधुकर्ता राजाओं के साथ गाकर मिलाओ।" वे वैसे ही पुराने राजाओं के यश के साथ उसका यश गाकर उसे उनका सलोक कर देते हैं। यो उन्हे कहकर अध्वर्यु घोड़े के सुम की खोज में 'प्रक्रम' (=आगे बढ़ने के) होम करता है। सायकाल 'धृति' (=दृढता, घोडे की रक्षा के होम) के समय राजन्य वीणागाथी वेदि के दक्षिण को उत्तर-मद्र स्वर में तीन स्वय बनाई हुई गाथाएँ गाता है कि "यो लड़ा यो अमुक संग्राम को जीता।"

दूसरे दिन

सावित्री इष्टि के पीछे वैसे ही काम होता है। होता कहता है, 'अध्वर्यो !" उत्तर मिलता है, "ह वै होत. !" होता कहता है,

"विवस्वत् का पुत्र यम राजा, उसकी प्रजा पितर् हैं, वे ये बैठे हुए हैं" यों कहकर जो बुड्ढे वहाँ इकट्ठे हैं उन्हें दिखाता है। "यजु इनका वेद है, सो यह है" यो कहकर यजु के एक अनुवाक को कहता हुआ सा दौड़े। वीणावालो को पहले की तरह कहे। परंतु 'प्रक्रम' होम न करे (क्योकि घोड़ा दूर निकल गया अव उसकी खोज कहाँ)। ये होम या तो आहवनीय अग्नि में किए जाते हैं या वारहवें महीने में जव घोड़ा लौट आता है और अश्वत्थ की वनी घुड़साल में रखा जाता है तब वहीं होम किया जाता है, या रथकार के घर में।

तीसरे दिन

उसी तरह संबोधनों के पीछे "अदिति का पुत्र वरुण राजा, उसकी प्रजा गंधर्व हैं, वे ये बैठे हैं" यो कहकर जो सुंदर युवा वहाँ इकट्ठे होते हैं उनकी ओर इंगित करता है। "अथर्वन् (इनका) वेद है, सो यह है" यो कहकर अथर्व के एक पर्व को कह जाय। अथवा शाखायन और आश्वलायन के मत से चिकित्सा-शास्त्र या कोई जाँची हुई ओषधि का उपदेश करे।

चौथे दिन

उसी तरह "विष्णु का पुत्र सोम राजा, उसकी प्रजा अप्सराएँ, वे ये वैठी हैं" यो कहकर जो सुंदर युवतियाँ वहाँ इकट्ठी हैं उन्हें दिखाता है। "अंगिरस् वेद है, वह यह है" यो कहकर अंगिरस् का एक पर्व अथवा घोर (जादू टोटका) सुना दे। [अथर्ववेद के दो भाग हैं, अथर्व ऋषि का 'अथर्व' जिसमें चिकित्सा है और

वीणावालों के जत्थे को तो वैसे ही हाँक दी है, परतु 'प्रक्रम' होम नहीं किए।

यो इस 'पारिप्लव उपाख्यान' के कहने से सारे राज्य, सारी प्रजाएँ, सारे वेद, सारे देव, सारे भूत कहे जाते हैं। जिसके यहाँ जानकार होता यो पारिप्लव उपाख्यान कहता है या जो इसे समझता है उसे सब राज्यो की समानता, सलोकता, सब प्रजाओ का ऐश्वर्य, आधिपत्य मिलता है, वह सब वेदो को रोकता (अपनाता) है, सब देवो को प्रसन्न कर के सब भूतो में प्रतिष्ठित होता है। वर्ष भर तक दस दस दिन करके छत्तीस दफा यह कहानी कही जाती है जब तक कि घोड़ा लौट आता है।

इस कथा से यह सिद्ध होता है कि सारी प्रजा यज्ञ मे सम्मिलित होती थी, राजा को सब में अपनापन की बुद्धि होती थी। जो लोग अत्यजो को वैदिक धर्म से दूर समझते हों वे इस आख्यान को ध्यान से पढ़ें।

(आश्वलायन अ० १०, शांखायन १६, शतपथ ब्राह्मण १३।४, कात्यायन श्रौतसूत्र २० प्रभृति।)

चाणूर अंध्र

विष्णुसहस्रनाम[1] में विष्णु के हजार नामों में से एक 'चाणूरान्ध्र-

1—महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय २५४ (कुंभघोण संस्करण) = अध्याय १४९ (प्रतापचंद्र राय का संस्करण) । महाभारत के सब पते कुंभघोण संस्करण ही से दिए जाएँगे ।

विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, गीता, अनुस्मृति और गजेंद्रमोक्ष ये महाभारत के पंचरत्न कहे जाते हैं । इनमें से विष्णुसहस्रनाम (अनुशासन-पर्व, अध्याय २५४), भीष्मस्तवराज (शांतिपर्व, अध्याय ४६), श्रीमद्भगवद्गीता (भीष्मपर्व, अध्याय २५-४२) और अनुस्मृति (शांतिपर्व, अध्याय २१०, अनुगीता दूसरी चीज है, आश्वमेधिकपर्व, अध्याय १७-५१) तो वहाँ हैं, किंतु गजेंद्रमोक्ष का कहीं महाभारत में पता नहीं है । गजेंद्रमोक्ष जो पंचरत्नों में पढ़ा जाता है वह श्रीमद्-भागवत (स्कन्ध ८, अध्याय २-४) में है ।

कुछ समय बीता, हिंदी के एक कवितामय पत्र में यह बात उठाई गई थी कि एक प्रसिद्ध प्रेस के छपे भागवत में 'विप्राद् द्विषड्गुण-युतात्०—' इत्यादि श्लोक नहीं छपा है सो यह स्मार्त पंडितों की चालाकी है । सांप्रदायिकों पर पुराणों में जोड़ देने का दोषारोपण तो सदा से होता आया है, स्मार्तों पर छाँटकर श्लोक निकाल देने का यह कलंक नया है । प्रेस के स्वामी ने क्षमा माँग ली । इस श्लोक को निकालने से स्मार्तों का क्या बन जाता और रहने से क्या बिगड़ता

मारनेवाला। यही अर्थ शांकर भाष्य में किया है[१]। चाणूर मथुरा के राजा कंस का प्रसिद्ध मल्ल था जिसे श्रीकृष्ण ने मारा था[२]। उसे अंध्र कहने के दो ही अर्थ हो सकते हैं, या तो वह अंध्र नामक वर्णसंकर (प्रतिलोम) जाति का हो जो वैदेहिक से कारावरी में उत्पन्न होता है[३] या वह अंध्रदेश का निवासी हो[४]। दूसरा अर्थ

१—श्रीवाणीविलास प्रेस, श्रीरंग का स्मारक संस्करण, जिल्द १३, पृष्ठ १३८ (श्लोक १०१ का भाष्य)।

२—महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय १३०, श्लोक ६१, श्रीमद्-भागवत स्कंध १०, अध्याय ४४। हरिवंश, अध्याय ८६ में भी इसके मारे जाने की कथा है। महाभारत, सभापर्व में चाणूर और अंध्रक नामक दो राजा भी कहे गए हैं जो सभाप्रवेश में युधिष्ठिर के साथ थे (अध्याय ४, श्लोक ३२ और ३०)।

३—मनुस्मृति १०। ३६।

४—अंध्र वा आंध्र देश तथा उसके निवासी दोनों के लिये आता है। यह तेलंग (तेलगु-भाषी) देश है जिसमें मद्रास के उत्तरी सरकार विभाग, विजयानगरम्, विजगापटम् (विशाखपत्तन) आदि प्रांत हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप उपाख्यान में लिखा है कि विश्वामित्र ने जब शुनःशेप को नरमेध से बचाकर अपना पुत्र बनाया तब उसके पचास पुत्रों ने इसे स्वीकार न किया। विश्वामित्र के शाप से वे और उनके वंशज अंध्र, पुंड्र, शबर, पुलिंद और मूतिब हुए (ऐतरेय ८।१८)। शांखायन श्रौतसूत्र में पुलिंदों का नाम नहीं है, और

अधिक उचित जान पड़ता है, क्योंकि अध्र जाति मृगया से जीविका करनेवाली और नगरो से बाहर रहनेवाली कही गई है[1], मल्ल नहीं। सो अध्रदेश पहले भी एक राममूर्त्ति उत्पन्न कर चुका है।

— —

मूतिव के स्थान पर मूचिप है। ऐतरेय मे उन्हें विश्वामित्र ने शाप दिया है कि 'अतान् वः प्रजा भक्षीष्ट' अर्थात् तुम्हारी सतान (सीमा +) अत देशों को भोगे और ब्राह्मण में उन्हें उदत्य (सीमाप्रातवासी) और 'दस्यूना भूयिष्ठाः' कहा है। इसका यही अर्थ है कि ये जातियाँ ऐतरेय ब्राह्मण के काल में आर्यो की निवासभूमि के सीमाप्रातों पर रहती थीं। कृष्णा और गोदावरी का मध्यभाग अध्र या आध्र अनार्यो का वासस्थान था।

१—वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ (मनु० १०। ३६), क्षुद्रो वैदेहकादन्ध्रो बहिर्ग्रामप्रतिश्रय. (महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय ८३, श्लोक २५)।

महर्षि च्यवन का रामायण

महाकवि अश्वघोष[1] ने अपने प्रसिद्ध काव्य बुद्ध-

१—तिब्बती और चीनी बौद्ध-ग्रंथों से छ. अश्वघोषों का पता चलता है, किंतु अश्वघोष सम्राट् कनिष्क का समकालिक था। वह साकेतक अर्थात् अयोध्या का निवासी था और आचार्य पार्श्व के शिष्य पूर्णयशस् ने इसे बौद्धधर्म में दीक्षित किया था। जब कनिष्क ने, जिसकी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी, मगध के पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया तब वह वहाँ से अश्वघोष को ले गया। पीछे पार्श्व आचार्य से कनिष्क ने बौद्ध आगमो का अध्ययन किया और धार्मिक शकाओं की निवृत्ति के लिये अपने राज्य के अतर्गत कश्मीर में कु डल-वन नामक स्थान पर बौद्ध ज्ञाताओं का सघ कराया। वसुमित्र इस सघ का प्रधान और अश्वघोष उपप्रधान हुआ। उसी सघ में महाविभाषा नामक बौद्धधर्म की व्याख्या की रचना की गई।

राजतरगिणी में हुष्क, जुष्क और कनिष्क नामक तीन बौद्ध धर्मा-नुयायी तुरुष्क राजाओं का कश्मीर में साथ ही साथ राज्य करना लिखा है किंतु वहाँ उनका गोनद तृतीय और अभिमन्यु के भी पहले, अर्थात् राजतरगिणी के क्रम के अनुसार ईसवी सन् से लगभग १२०० वर्ष पहले, राज्य करना कहा गया है जो माननीय नहीं। कनिष्क का बसाया हुआ कनिष्कपुर भी कश्मीर में कहा गया है जो डाक्टर

स्टाइन के मत से वारहमूला से श्रीनगर को जाती हुई सडक और वितस्ता (विहाट) नदी के बीच का वर्त्तमान कानसीपोर है। (राज-तरगिणी १ । १६८–१७३)।

तुरुष्क या यूहचि राजाओं में कुजुल कडफिसिस और उसके पुत्र वेम कडफिसिस के पीछे कनिष्क आता है। उसका पुत्र हुविष्क था और उसका वसुदेव वा वसुष्क। ये कनिष्क, हुविष्क और वसुष्क की तीन पीढियाँ राजतरगिणी के कनिष्क, हुष्क और जुष्क हो सकती हैं। इन सब के सिक्के मिले हैं। कनिष्क का राज्यारभ सन् ७८ ई० में और उससे ही शक सवत् का चलना मानने के पक्ष में कई लोग हैं। इस विषय में बहुत वाद-विवाद है किंतु ईसवी सन् की पहली शताब्दी के उत्तरार्ध से दूसरी के मध्य तक कनिष्क का काल कभी न कभी मानना ही पड़ता है। चतुर्थ बौद्ध-सघ, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, ई० स० १४० के लगभग हुआ था।

सुभाषितावलियों में कुछ श्लोक अश्वघोष के नाम से मिलते हैं, और अमरकोश की टीकाओं में कुछ उदाहरण, जो बुद्धचरित और सौंदरनद से लिए हैं। चीनी और तिब्बती भाषाओं में अश्वघोष के बहुत से ग्रथों के अनुवाद मिलते हैं। वहाँ के बौद्ध-साहित्य की परीक्षा से जाना जाता है कि अश्वघोष, मातृचेट, शूर, आर्य्यशूर, सब एक ही महाकवि के नाम हैं। सम्राट् कनिक (कनिष्क) के नाम मातृचेट का एक पत्र 'कनिकलेख' भी मिला है। अश्वघोष के प्रधान ग्र थ ये हैं— (१) बुद्धचरित-काव्य, (२) सौंदरनद—महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री ने इसे नेपाल से प्राप्त कर बिब्लोथिका इंडिका में छपवाया है।

चरित[1] मे एक प्रसंग पर लिखा है कि 'वाल्मीकि के नाद ने वह पद्य उपजाया जो च्यवन महर्षि नहीं बना सके थे'। इस पर प्रोफेसर

इसमें बुद्ध के अपने भाई नद के पास जाकर उसे पत्नी सु दरा के प्रेम-पाश से छुडाकर वैराग्यमार्ग में लाने का वडा ही सु दर वर्णन है, (३) वज्रसूची—इसमें जन्म से जाति मानने का खडन है,· (४) शारिपुत्र प्रकरण—इस नाटक का खड तुरफान की खोज में मिला था। डाक्टर लूडर्स ने इसे छपवाया है, (५) जातकमाला, (६) सूत्रालकार, (७) डेढ सौ स्तोत्र। और भी कई ग्र थ हैं। बौद्ध-साहित्य में अश्वघोष, मातृचेट अथवा आर्यशूर का वडा ऊँचा स्थान है। सस्कृत साहित्य में उसका निवेश नई खोज का फल है।

१—इसमें बुद्ध के जन्म, गृहत्याग, तपस्या, सिद्धि आदि का वडा उत्तम वर्णन है। इस महाकाव्य का चीनी अनुवाद ईसवी सन् की पॉचवीं शताब्दी में धर्मरत्न ने किया और तिब्बती अनुवाद सातवीं या आठवी शताब्दी में हुआ। सस्कृत मूल पाठ की प्रतियाँ नेपाल से मिली हैं। वहॉ पडित अमृतानद ने उसकी खडित प्रति को कई श्लोक और चार सर्ग अपनी ओर से जोडकर नेवारी सवतू ७५० (ईसवी सन् १८३० ई०) में पूर्ण किया। डाक्टर कावेल ने 'एनेकडोटा आकसेनसिया' में इसका अतिप्रामाणिक सस्करण निकाला है। चीनी अनुवाद और अमृतानद के सशोधित (!) पाठ का अनुवाद बील ने 'सेक्रड बुक्स आफ दी ईस्ट' में छपवाया है। चीनी अनुवाद सार-मात्र है, तिब्बती अनुवाद पूर्ण, अक्षरानुयायी और प्रामाणिक है।

ल्यूमैन ने लिखा कि इस प्रकार के उल्लेख से यह अनुमान करना कि वैदिक ऋषि च्यवन का बनाया हुआ कोई रामायण गद्य में था और वह वाल्मीकि की पद्यमय रचना के प्रचलित होने पर लुप्त हो गया, बड़े साहस का काम है। ल्यूमैन का यह कहना था[1] कि हवा ही चल गई कि च्यवन का रामायण वाल्मीकि के पहले था। नंदर्गिकर ने अपने रघुवश के संस्करण की भूमिका मे यह माना है[2] कि च्यवन-रचित रामायण था, और और भी कई लोग ऐसा मानने लग गए हैं। अतएव यह विचार करना अनुचित न होगा कि बुद्ध-चरित के उस उल्लेख से यह अनुमान कहाँ तक निकल सकता है।

डाक्टर वेंजल ने उसका अनुशीलन किया है। ववई विश्वविद्यालय के पाठको के लिये नदर्गिकर ने बुद्धचरित के पॉच सर्गो का सस्करण छापा है जिसकी भूमिका में लिखा है कि एक नई प्रति उन्हें पजाव के वेतिया नगर से (?) मिली है।

कालिदास को विक्रम सवत् के चलानेवाले विक्रम के यहाँ मानने-वाले लोग बुद्धचरित में बुद्ध को देखने के लिये आनेवाली नगरवासिनी स्त्रियो के शृगार और हड़बड़ी के वर्णन में रघुवंश तथा कुमारसंभव के वैसे ही वर्णनों की छाया देखते हैं, किंतु कालिदास का समय गुप्तकाल में माननेवाले अश्वघोष के वर्णन को कालिदास का उपजीव्य मानते हैं। अश्वघोष की कविता बहुत ही ओजस्विनी और मधुर है।

१—वियना ओरिएंटल सोसाइटी का जर्नल, जिल्द ७, पृष्ठ १६७।

२—रघुवश के सस्करण की भूमिका, पृष्ठ १००।

बुद्धचरित के उस प्रसग की विस्तारपूर्वक आलोचना करने का एक और भी कारण है। पिछले हजार दो हजार वर्षों से हिंदू सभ्यता मे धर्म के नाम पर यह कुसस्कार घुस गया है कि पहले जो कुछ हो गया वैसा अब नहीं हो सकता, अब गिरने के दिन हैं, चढने के नहीं। प्रचलित धर्म और समाज के शोक-सगीत की टेक यही है कि न पहले का सा समय है, न राजा, न ऋषि, न विद्या और न सपत्ति। वर्तमान आंदोलनो मे भी आगे उन्नति करने की प्रवृत्ति को दबाकर यह रोग बढ़ता जा रहा है कि प्राचीन समय फिर लौट आवे तो हम निहाल हो जायँ। जिस बुद्धि ने हिंदू सभ्यता की जडों में अवसर्पिणी काल और कलियुग के तेल की सिंचाई की है उसने बडा अनर्थ किया है, सारे समाज को उत्साह-शून्य बना दिया है। और देशों में पिता पुत्र से यह आशा करता है कि वह मुझसे सब बातो में बढकर हो, पर यहाँ वह यही कहता है कि हमारी चाल निबाह लोगे तो बहुत है, हमसे बढ़कर क्या हो सकते हो। जहाँ पलने से लेकर वैकुंठी तक यही मन-हूस रौर मचा रहता है कि जो पीछे गया अच्छा था, आगे आवेगा वह बुरा ही बुरा होगा, वहाँ उन्नति की क्या आशा की जा सकती है ? यह बारहमासी आत्मग्लानि, यह निराशामय आत्मवचना, यह दुर्भाग्यजनक आत्मघर्षण, पहले न था। पहले लोग अपने पूर्वजों को बराबरी का समझते थे और यह असभव नहीं मानते थे कि हम उनसे बढकर हो सकते हैं। कम से कम उनपर यह निराशा का उन्माद और जन्म भर का सियापा तो नहीं चढा था

कि हम गिरते ही जायँगे। कम से कम आर्यसुवर्णाक्षीपुत्र साकेतक आचार्य आर्यभदंत अश्वघोष ने तो इस विषय पर बहुत ही स्पष्ट लिखा है। उदाहरणों की प्रचुरता से, भाषा के अनुपम लालित्य से, उत्साह के उद्दीपन में, उसका कथन इतना ओजस्वी, इतना मधुर और इतना रमणीय है कि उसका पूरी तरह मनन करना चाहिए।

कपिलवस्तु मे महाराज शुद्धोदन के मायादेवी के गर्भ से तथागत बुद्ध का जन्म हुआ है। राजा चिंता में मग्न है कि देखें यह बालक कैसा निकले। इसपर ब्राह्मणों ने उसे दृष्टांत कहकर विश्वास दिलाया, आश्वासन दिया, अभिनंदन किया; तब राजा ने मन से अनिष्ट शंका छोड़ दी और वह अत्यंत प्रसन्न हुआ। ब्राह्मणो ने क्या दृष्टांत दिए थे?—

यद् राजशास्त्रं भृगुरङ्गिरा वा न चक्रतुर्वंशकरावृषी तौ।
तयो सुतौ तौ च ससर्जतुस्तत्कालेन शुक्रश्च बृहस्पतिश्च॥
सारस्वतश्चापि जगाद वेदं नष्टं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे।
व्यासस्तथैनं बहुधा चकार न यं वसिष्ठः कृतवान्न शक्तिः॥
वाल्मीकिनादश्च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः।
चिकित्सितं यच्च विवेद नात्रि. पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद॥
यच्च द्विजत्वं कुशिको न लेभे तत्साधनं सूनुरवाप राजन्।
वेलां समुद्रे सगरश्च दध्रे नेक्ष्वाकवो यां प्रथमं बबन्धुः॥
आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम।
ख्यातानि कर्माणि च यानि शौरे. शूरादयस्तेष्ववला बभूवु.॥

तस्मात्प्रमाण न वयो न काल कश्चित्कचिच्छ्रैष्ठ्यमुपैति लोके।
राज्ञामृषीणा च हितानि तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैं ॥[1]

भावार्थ—भृगु और अगिरा[2] वश के चलानेवाले ऋषि थे; उन्होने जो राजशास्त्र[3] नहीं बनाया वह उनके पुत्र शुक्र और बृहस्पति ने समय पाकर बना दिया। पहले ऋषियो को जिसका दर्शन भी नही हुआ था उस नष्ट वेद को सारस्वत ऋषि ने (फिर) कह दिया[4]। व्यास ने वेद का (शाखाभेद-) विस्तार किया जो

१—बुद्धचरित, कावेल का सस्करण, सर्ग १, श्लोक ४६–५१।

२—भृगु का पुत्र भार्गव (शुक्र), अगिरा का पुत्र आगिरस (बृहस्पति)—'अगिरा बृहस्पतिपिता भृगु. शुक्रपिता' (गणरत्नमहोदधि, एगलिंग का सस्करण, पृष्ठ ५५)

३—शुक्र और बृहस्पति के नीतिशास्त्र प्रसिद्ध हैं—'उशना वेद यच्छास्त्र यच्च वेद बृहस्पति.'। महाभारत शातिपर्व में लिखा है कि बृहस्पति ने एक लक्ष श्लोकों का नीतिशास्त्र बनाया और फिर उशनस् (शुक्र) ने उसे सक्षिप्त किया। इनके मत और कहीं कही इनकी गाथाएँ भी महाभारत में हैं। कौटिल्य ने भी इनके मत उद्धृत किए हैं। प्रचलित शुक्रनीति और नए मिले हुए बृहस्पति-सूत्र पीछे के ग्रथ हैं। ये दोनो राजनीति के पुराने आचार्य मनुष्य-ऋषि थे, कथाओं में देवताओं और असुरों के गुरु हो गए।

४—महाभारत, शल्य पर्व, में कथा है कि एक समय दुर्भिक्ष पडने पर और सब ऋषि पेट पालने के लिये भटकते फिरे, वेद भूल गए। केवल अगिरा और सरस्वती का पुत्र अपनी माता के प्रसाद से उसके

न उसके पड़दादा वसिष्ठ से हुआ और न पितामह शक्ति[1] से।

तट पर प्रति दिन एक मछली खाकर वेद को जीवित रख सका। समय बीतने पर उस युवा ऋषि ने वृद्ध ऋषियों से गुरूचित सम्मान पाकर उन्हें फिर वेद पढ़ाया। यों सारस्वत सत्र का गुरु हुआ—'अध्यापयामास ऋषीन् शिशुराङ्गिरसः कविः। पुत्रका इति च प्राह.. ॥ न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बधुभिः। ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्।' (मनुस्मृति २।१५१, ४), 'अथाङ्गिरा रागपरीतचेताः सरस्वतीं ब्रह्मसुतः सिषेवे। सारस्वतोऽभूत्तनयस्तु सोऽस्य नष्टस्य वेदस्य पुनः प्रवक्ता' ॥ (सौंदरनद काव्य)

आसीद्ब्रह्मसरः सुधासहचर भाडात्तत
प्रावर्तिष्ट सरस्वती सुरनदी गम्भीरनीरा भुवि।
सा तीरे तपसि स्थित वृतवती देवी दधीचिं मुनिं
तस्मादाप सुत वसिष्ठसदृश सारस्वत नामत. ॥ २ ॥
तत्रानावृष्टिरासीज्जगति तनुतरब्राह्मणे द्वादशाब्द
तस्यामासाद्य वृष्टिं कथमपि तपसा देवराजप्रसादात्।
वेदा 'म तान् स्मृतिपथविमुखान्ब्राह्मणान् भक्तिभाजो
भूयः सारस्वतो यः श्रवणरससुख पाठयामास सम्यक् ॥ ३ ॥
सरस्वती पत्तननामधेये सारस्वतास्तस्य सुता बभूवुः।
श्रुतिस्मृतीहासपुराणविज्ञा यज्ञप्रधानाः शिवसन्निधानाः ॥ ४ ॥

(ग्वालियर राज्य के सुरवाया स्थान में सोमधर के पुत्र ईश्वर की कराई वापी की प्रशस्ति, स० १३४१ कार्तिक शुदि ५ बुधे, एक फोटो से।)

१—वसिष्ठ—शक्ति—पराशर—व्यास। 'विव्यास वेदान् यस्मात्स

पाया। सगर ने समुद्र पर वेला बाँधी (समुद्र का तीर नियमन किया) जो उसके पहले इक्ष्वाकुवंशी नहीं कर सके थे[1]। योग-विधि में ब्राह्मणों का गुरु बनना औरों के भाग्य में नहीं बदा था, वह जनक[2] ने पाया। कृष्ण के जो लोकोत्तर कर्म प्रसिद्ध हैं उन्हें

१—महाभारत वनपर्व १०५–१०९ ('समासयज्ञः सगरो पुत्रत्वे कल्पयामास समुद्रं वरुणालयम्' १०७।३७), भागवत ८।८–९ ('सगरश्चक्रवर्त्यासीत्सागरो यत्सुतैः कृतः' ८।८।५)। भागवत की वंशावली में सगर इक्ष्वाकु से ३१वाँ पुरुष है।

२—'च्यवनो जीवदानं च चकार भगवानृषिः। चकार जनको योगी वैद्यसन्देहभञ्जनम्'॥ (ब्रह्मवैवर्त पुराण, १।१६।१९) जनक के ब्राह्मणों को योग सिखाने की कथा विष्णुपुराण में भी है ('आज' दैनिक पत्र, रविवार ता० १९।१२।२० की संख्या में बाबू भगवानदास का लेख)। शतपथ ब्राह्मण में कथा है कि जनक श्वेतकेतु आरुणेय, सोमशुष्म सात्ययज्ञि और याज्ञवल्क्य तीनों से अधिक अग्निहोत्र की जानकारी दिखाकर और याज्ञवल्क्य को यह कहकर कि तू भी इतनी इतनी बातें नहीं जानता, रथ पर बैठा आगे चला गया। इसपर उन दोनो ऋषियो ने कहा कि यह राजन्यबंधु (घृणावाचक शब्द, क्षत्रिय के लिये) हमसे बढकर बोल गया, इसे ब्रह्म-विचार के लिये ललकारें क्या? तब याज्ञवल्क्य ने उन्हें समझाया कि हम ब्राह्मण ठहरे, यह राजन्यबंधु, यदि इसे जीत लिया तो बड़ाई क्या और कहीं हार गए तो हमें लोग कहेंगे कि क्षत्रिय से हार गए। वे मान गए। उन्हें यों समझाकर याज्ञवल्क्य जनक के पीछे रथ दौड़ाकर गया। जनक

करने में उसके पूर्वज शूर[1] आदि असमर्थ थे। इसलिये न तो अवस्था प्रधान है, न काल। लोक मे कोई कभी श्रेष्ठ हो जाता है। राजाओं तथा ऋषियों के कई हितकारक कार्य हैं जो पुरखाओ से न हो सके और उनके पुत्रो ने कर दिखाए।

कैसा उत्साहवर्धक वर्णन है। 'कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः'।।

इन सारे उदाहरणो को विचार कर देखते हैं तो जान पड़ता है कि इनमे उन महत्त्व के कार्यों का उल्लेख है जो पूर्वजो से न वन पड़े और उनके वशधरो ने कर दिखाए। इससे यह परिणाम तो निकाल सकते हैं कि च्यवन वाल्मीकि का पिता, पितामह या पूर्वज था, किंतु यह नहीं कह सकते कि च्यवन ने गद्य या पद्य मे रामायण लिखा था।

प्राचीन काल मे वाल्मीकि-रामायण के अतिरिक्त रामकथा के विषय के और भी पुराण, इतिहास, काव्य आदि रहे होगे जिनमें वाल्मीकि-रामायण की कथा से कहीं कहीं भेद भी था। महाभारत की रामकथा में ही वाल्मीकि-रामायण से कुछ भेद हैं[2]*।

ने पूछा कि अग्निहोत्र सीखने आया है? याज्ञवल्क्य ने कहा 'हाँ, सम्राट्'। तब जनक ने उसे उपदेश देकर कहा कि इससे परे कुछ नहीं है। फिर जनक ब्राह्मण हो गया। (शतपथ ६।२।१—१०)

१—शूर वसुदेव के पिता थे।

२—महाभारत वनपर्व, २७४-२९३।

* (इस ग्रंथ के दूसरे भाग में मुद्रित 'पुरानी हिंदी' शीर्षक लेख के 'सोमप्रभाचार्य के कुमारपाल प्रतिबोध' इस उपशीर्ष के अंतर्गत पाँचवाँ पैरा—सपादक।)

भाष्यकार से पहले भी भट्टिकाव्य के भैया या दादा काव्य बन चुके थे जिनसे भाष्यकार ने जहाँ-तहाँ उद्धृत किया है ('स्तोष्याम्यह पादिकमौदवाहि' इत्यादि)। इसी 'एति जीवन्तमानन्दः' को लीजिए। वैयाकरण काशिकाकार तो कदाचित् अपने शास्त्र के सकेत को जानते थे कि भाष्यकार ने यह अवतरण कहाँ से दिया है। काशिका की कुछ प्रतियो में तो यही रामायणवाला श्लोक दिया है, और कुछ में इसका पाठ यह है—'एति जीवन्तमानन्दो नर वर्षशतादपि। जीव पुत्रक मामैव तप. साहसमाचर ॥' इसके अर्थ से मालूम होता है कि यह रामायण का नहीं है, कोई पिता ससार से दुखी होकर तपस्या के लिये जाते हुए पुत्र को रोक रहा है, जैसे मेना ने पार्वती को रोकना चाहा था। यो ही पाणिनि २।२।२४ पर महाभाष्य में यह उदाहरण दिया है—

'सुसूक्ष्मजटकेशेन सुनताजिनवाससा।'

इसका काशिका की एक प्रति में तो पूरा पाठ है—

'सुसूक्ष्म०—समन्तशितिरन्ध्रेण द्वयोर्वृत्तौ न सिद्ध्यति।'

इससे तो जान पडता है कि यह किसी व्याकरण के उदाहरणकारिका-मय ग्रथ से है, कितु दूसरी प्रति का पाठ है—

'सुसूक्ष्मजटकेशेन मलिनाजिनवाससा।
पुत्री पर्वतराजस्य कुतो हेतोर्विवाहिता ॥'

इससे जान पडता है कि यह किसी शिवपार्वतीपरिणय या शिवपार्वती के पुराने 'व्याहले' का श्लोक है।

महाभाष्य मे एक जगह राम-कथा के सबंध के दो श्लोक मिलते हैं[1] जो वाल्मीकि-रामायण मे नहीं हैं। संभव है कि वे किसी और रामकथाविषयक काव्य मे से हो। यह भी संभव है कि वे किसी भट्टिकाव्य के ढंग के प्राचीन उदाहरण-मय काव्य मे से हो, क्योकि इनमें उपसर्गसहित √ स्था के प्रयोग के दो भिन्न अर्थों का[2] विवेचन किया गया है।

यो रामकथासबधी अनेक प्राचीन काव्यो के होते हुए भी वाल्मीकि के रामायण के पहले च्यवन का रामायण था ऐसा मानने का कोई कारण अश्वघोष के उद्धृत प्रतीक मे नहीं है।

कई श्लोक महाभारत, मनुस्मृति और धम्मपद में, कई महाभारत और रामायण में एक ही मिल जाते हैं। वहाँ कहना कठिन है कि किसमें किससे लिया गया है।

१ —'उपान्मन्त्रकरणे' (पाणिनि १।३।२५) पर—

'बहूनामप्यचित्तानामेको भवति चित्तवान्।
पश्य वानरसैन्येस्मिन्यदर्कमुपतिष्ठते ॥
मैव मंस्थाः सचित्तोयमेषोऽपि हि यथा वयम्।
एतदप्यस्य कापेय यदर्कमुपतिष्ठति ॥'

२—उपतिष्ठति—सामने खडा होता है, उपतिष्ठते—पूजा करता है।

देवकुल

हर्षचरित के आरभ मे महाकवि बाण ने भास के विषय में यह श्लोक लिखा है—

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥

अर्थात जैसे कोई पुण्यात्मा देवकुल (देवालय) बनाकर यश पाता है वैसे भास ने नाटको से यश पाया। देवकुलो का आरभ सूत्रधार (राजमिस्त्री) करते हैं, भास के नाटको मे भी नांदी रग मच पर नहीं होती, पर्दे की ओट में ही हो जाती है। नाटक का आरभ 'नान्द्यन्ते तत. प्रविशति सूत्रधार ', नादी के पीछे सूत्रधार ही आकर करता है। मदिरो मे कई भूमिकाएँ (खड या चौक) होते हैं, भास के नाटको मे भी कई भूमिकाएँ (पार्ट) है। मदिरो पर पताकाएँ (ध्वजाएँ) होती हैं, इन नाटको मे भी पताका (नाटक का एक अग) होती हैं। यो देवकुल सदृश नाटको से भास ने यश पाया था। किंतु आधुनिक ऐतिहासिक खोज मे यह एक बात और निकली कि भास ने 'देवकुल' से ही यश पाया।

महामहोपाध्याय पडित गणपति शास्त्री के अध्यवसाय से ट्रावकोर में भास के कई नाटक उपलब्ध हुए हैं। वे त्रिवेंद्रम सस्कृत ग्र थमाला मे छपे हैं। उनमे एक प्रतिमानाटक भी है। उसका

नाम ही प्रतिमा यों रखा गया है कि कथानक का विकास प्रतिमाओं से होता है। नाटक रामचरित के बारे में है। भरत ननिहाल केकय देश में गया है। शत्रुघ्न साथ नहीं गया है, इधर अयोध्या में ही है। भरत को वर्षों से अयोध्या का परिचय नहीं। पीछे केकयी ने वर माँगे, राम वन चले गए, दशरथ ने प्राण दे दिए। मंत्रियो के बुलाने पर भरत अयोध्या को लौटा आ रहा है। इधर अयोध्या के बाहर एक दशरथ का प्रतिमागृह, देवकुल, बना हुआ है। इतना ऊँचा है कि महलो में भी इतनी ऊँचाई नहीं पाई जाती[1]। यहाँ राम-वनवास के शोक से स्वर्गगत दशरथ की नई स्थापित प्रतिमा को देखने के लिये रानियाँ अभी आनेवाली है। आर्य सभव की आज्ञा से वहाँ पर एक सुधाकर (सफेदी करनेवाला) सफाई कर रहा है। कबूतरों के घोसले और बीट, जो तब से अब तक मंदिरो को सिंगारते आए हैं, गर्भगृह (जगमोहन) में से हटा दिए गए हैं। दीवालो पर सफेदी और चंदन के हाथो के छापे (पंचागुल) दे दिए गए हैं[2]। दरवाजों पर मालाएँ

१—इदं गृह तत्प्रतिमा नृपस्य न. समुच्छ्रयो यस्य स हर्म्यदुर्लभ ।

२—आजकल भी चदन के पूरे पंजे के चिह्न मागलिक माने जाते हैं और त्योहारों तथा उत्सवों पर दरवाजो और दीवारों पर लगाए जाते हैं। जब सतियाँ सहमरण के लिये निकलती थीं तब अपने किले के द्वार पर अपने हाथ का छापा लगा जाया करती थीं। वह छापा खोद कर पत्थर पर उसका चिह्न बनाया जाता था। बीकानेर के किले के

चढ़ा दी गई हैं। नई रेत बिछा दी गई है। तो भी सुधाकर काम से निबटकर सो जाने के कारण सिपाही के हाथ से पिट जाता है। अस्तु। भरत अयोध्या के पास आ पहुँचा। उसे पिता की मृत्यु, माता के षड्यंत्र और भाई के वनवास का पता नहीं। एक सिपाही ने सामने आकर कहा कि अभी कृत्तिका एक घड़ी बाकी है, रोहिणी में पुरप्रवेश कीजिएगा। ऐसी उपाध्यायों की आज्ञा है। भरत ने घोड़े खुलवा दिए और वृक्षों मे दिखाई देते हुए देवकुल में विश्राम के लिये प्रवेश किया। वहाँ की सजावट देखकर भरत सोचता है कि किसी विशेष पर्व के कारण यह आयोजन किया गया है या प्रतिदिन की आस्तिकता है? यह किस देवता का मंदिर है? कोई आयुध, ध्वज या घंटा आदि बाहरी चिह्न तो नहीं दिखाई देता। भीतर जाकर प्रतिमाओं के शिल्प की उत्कृष्टता देखकर भरत चकित हो जाता है। वाह, पत्थरों मे कैसा क्रिया-माधुर्य है। आकृतियों मे कैसे भाव झलकाए गए हैं। प्रतिमाएँ बनाई तो देवताओं के लिये हैं, किंतु मनुष्य का धोखा देती हैं। क्या यह कोई चार देवताओं का संघ है[1]? यों सोचकर भरत

द्वार पर ऐसे कई हस्तचिह्न हैं। मुगल बादशाहों के परवानों और खास रुक्कों पर बादशाह के हाथ का पंजा होता था जो अंगूठे के निशान की तरह स्वीकार का बोधक था।

१—अहो क्रियामाधुर्यं पाषाणानाम्। अहो भावगतिराकृतीनाम्। दैवतोद्दिष्टानामपि मानुषविश्वासतासां प्रतिमानाम्। किन्नु खलु चतुर्दैवतोऽयं स्तोमः?

प्रणाम करना चाहता है, किंतु सोचता है, कि देवता हैं, चाहे जो हो, सिर झुकाना तो उचित है किंतु विना मत्र और पूजाविधि के प्रणाम करना शूद्रों का सा प्रणाम होगा। इतने ही मे देवकुलिक (पुजारी) चौंककर आता है कि मै नित्यकर्म से निवटकर प्राणिधर्म कर रहा था कि इतने मे यह कौन घुस आया कि जिसमे और प्रतिमाओ में वहुत कम अतर है? वह भरत को प्रणाम करने से रोकता है। इस देवकुल में आने जाने की रुकावट न थी, न कोई पहरा था। प थिकविना प्रणाम किए ही यहाँ सिर झुका जाते थे[1]। भरत चौंककर पूछता है कि क्या मुझसे कुछ कहना है? या किसी अपने से वड़े की प्रतीक्षा कर रहे हो, जिससे मुझे रोकते हो? या नियम से परवश हो? मुझे क्यो कर्तव्य-धर्म से रोकते हो? वह उत्तर देता है कि आप शायद ब्राह्मण हैं, इन्हे देवता जानकर प्रणाम मत कर वैठना, ये क्षत्रिय हैं, इक्ष्वाकु हैं। भरत के पूछने पर पुजारी परिचय देने लगता है और भरत प्रणाम करता जाता है। यह विश्वजित् यज्ञ का करनेवाला दिलीप है जिसने धर्म का दीपक जलाया था[2]। यह रघु है जिसके उठते वैठते हजारो ब्राह्मण

१—अयत्रितैरप्रतिहारकागतैर्विना प्रणाम पथिकैरुपास्यते।

२—विश्वजित् यज्ञ का विशेषण 'सन्निहितसर्वरत्न' दिया है। इसका सीधा अर्थ तो यह है कि जहाँ ऋत्विजों को दक्षिणा देने के लिये सब रत्न उपस्थित थे (कालिदास का 'सर्वस्वदक्षिणम्')। दूसरा अर्थ यह भी है कि राजा के रत्न—प्रजा प्रतिनिधि—सब वहाँ उपस्थित

पुण्याह शब्द से दिशाओं को गुँजा देते थे। यह अज है जिसने प्रियावियोग से राज्य छोड दिया था और जिसके रजोगुणोद्भव दोष नित्य अवभृथ स्नान से शात होते थे। अब भरत का माथा ठनका। इस ढग से चौथी प्रतिमा उसी के पिता की होनी चाहिए। निश्चय के लिये वह फिर तीनों प्रतिमाओं के नाम पूछता है। वही उत्तर मिलता है। देवकुलिक से कहता है कि क्या जीते हुओं की भी प्रतिमा बनाई जाती हैं? वह उत्तर देता है कि नहीं, केवल मरे हुए राजाओं की। भरत सत्य को जानकर अपने हृदय की वेदना छिपाने के लिये देवकुलिक से बिदा होकर बाहर जाने लगता है किंतु वह रोककर पूछता है कि जिसने स्त्रीशुल्क के लिये प्राण और राज्य छोड दिए उस दशरथ की प्रतिमा का हाल तू क्यों नहीं पूछता? भरत को मूर्च्छा आ जाती है। देवकुलिक उसका परिचय पाकर सारी कथा कहता है। भरत फिर मूर्च्छित होकर गिर पडता है। इतने मे रानियाँ आ जाती हैं। हटो बचो की आवाज होती है। सुमत्र किसी अनजाने बटोही को वहाँ पड़ा समझकर रानियो को भीतर जाने से रोकता है। देवकुलिक कहता है कि बेखटके

थे अर्थात् सारी प्रजा की प्रतिनिधिलब्ध सहानुभूति से यज्ञ हुआ था। राजसूय प्रकरण में उन प्रजा के प्रधान रत्नों का उल्लेख है जिनके यहाँ राजा जाकर यज्ञ करता और तुहफे देता। यह राजसूय का पूर्वांग है। (दे०—इस ग्रथ में पृष्ठ ५४ – ८२. सपादक।)

चली आओ, यह तो भरत है[1]। प्रतिमाएँ इतनी अच्छी बनी हुई थीं कि भरत की आवाज सुनकर सुमंत्र के मुँह से निकल जाता है कि मानो महाराज (दशरथ) ही प्रतिमा मे से बोल रहे हैं। और उसे मूच्छित पड़ा हुआ देखकर सुमत्र वय स्थ पार्थिव (जवानी के दिनों का दशरथ) समझता है। आगे भरत, सुमंत्र और विधवा रानियो की बातचीत होती है। बड़ा ही अद्भुत तथा करुण दृश्य है।

इससे पता चलता है कि भास के समय मे देवमंदिरों (देवकुलो) के अतिरिक्त राजाओ के देवकुल भी होते थे जहाँ मरे हुए राजाओ की जीवित-सदृश प्रतिमाएँ रखी जाती थीं। एक वश या राज-कुल का एक ही देवकुल होता था जहाॅ राजाओं की मूर्तियाँ पीढ़ी-वार रखी होती थीं। ये देवकुल नगर के बाहर वृक्षो से घिरे हुए होते थे। देवमदिरो से विपरीत इनमें झडे, आयुध, ध्वजाएँ या कोई बाहरी चिह्न न होता था, न दरवाजे पर रुकावट या पहरा

१—भास के समय में पर्दा कुछ था, आज कल के राजपूतों का सा नहीं। प्रतिमानाटक में जब सीता राम के साथ वन को चलती हैं तब लक्ष्मण तो रीति के अनुसार हटाओ, हटाओ की आवाज लगता है किंतु राम उसे रोककर सीता को घूँघट अलग करने की आज्ञा देता है और पुरवासियों को सुनाता है—

सर्वे हि पश्यन्तु कलत्रमेतद् बाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्त॰ ।
निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च ॥

होता था। आनेवाले बिना प्रणाम किए इन प्रतिमाओ की ओर आदर दिखाते थे। कभी कभी वहाँ सफाई और सजावट होती थी तथा एक देवकुलिक रहता था। देवकुलिक के वर्णन से सदेह होता है कि प्रतिमाओ पर लेख नही होते थे, किंतु लेख होने पर भी पुजारी और मुजाविर वर्णन करते ही हैं। अथवा कवि ने राजाओ के नाम और यश कहलवाने का यही उपाय सोचा हो।

भास के इक्ष्वाकुवश के देवकुल के वर्णन मे एक शका होती है। क्या चारों प्रतिमाएँ दशरथ के मरने पर बनाई गई थीं, या दशरथ के पहले के राजाओ की प्रतिमाएँ वहाँ यथासमय विद्यमान थीं, दशरथ की ही नई पधराई गई थी? चाहिए तो ऐसा कि तीन प्रतिमाएँ पहले थीं, दशरथ की अभी बनकर रखी गई थी, किंतु सुमत्र के यह कहने से कि 'इद गृह तत् प्रतिमानृपस्य न' और भट के इस कथन से कि 'भट्टिणो दसरहस्स पडिमागेह देट्ठु' यह धोखा होता है कि प्रतिमागृह दशरथ ही के लिये बनवाया गया था, और प्रतिमाएँ वहाँ उसके अनुषग से रखी गई थीं। माना कि भरत बहुत समय से केकय देश मे था, वह अपनी अनुपस्थिति में स्थापित दशरथ की प्रतिमा को देखकर अचरज करता, किंतु वह तो इक्ष्वाकुओ के देवकुल, उसकी तीन प्रतिमा, उसके स्थान, चिह्न और उपचार व्यवहार तक से अपरिचित था। क्या उसने कभी इस इक्ष्वाकु-कुल के समाधि-मदिर के दर्शन नहीं किए थे, या इसका होना ही उसे विदित न था? बातचीत से वह इस मदिर से अन-भिज्ञ, उसकी रीतियो से अनजान, दिखाई पड़ता है। सारा दृश्य

ही उसके लिये नया है। क्या ही अच्छा संविधानक होता यदि परिचित देवकुल मे भरत अपने 'पितु प्रपितामहान्' का दर्शन करने जाता, वहाँ पर चिरदृष्ट तीन की जगह चार प्रतिमाओ को देखकर अपनी अनुपस्थिति की घटनाओ को जान लेता। इसका समाधान यह हो सकता है कि भास का भरत बहुत ही छोटी अवस्था मे अयोध्या से चला गया हो और वहाँ के दर्शनीय स्थानों से अपरिचित हो। या कोई ऐसा सप्रदाय होगा कि पिता के जीते जी राजकुमार देवकुल में नहीं जाया करते हों। राजपूताने मे अब भी कई जीवत्पितृक मनुष्य श्मशान मे अथवा शोक-सहानुभूति (मातमपुर्सी) मे नहीं जाते। राजवंश के लोग नई प्रतिमा के आने पर ही देवकुल में आवें ऐसी कोई रूढि भी हो सकती है। अस्तु।

भास का समय अभी निश्चित नहीं हुआ। पडित गणपति शास्त्री उसे ईसवी पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी का, अर्थात् कौटिल्य चाणक्य से पहले का, मानते हैं[1]। जायसवाल महाशय उसे ईसवी

१—पडित गणपति शास्त्री ने पाणिनि-विरुद्ध बहुत से प्रयोगों को देखकर भास को पाणिनि के पहले का भी माना था। कौटिल्य से पहले का मानने में मान एक श्लोक है जो 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक तथा 'अर्थशास्त्र' दोनों मे है। अर्थशास्त्र में भास के नाटक से उसे उद्धृत मानने के लिये उतना ही प्रमाण है जितना भास के नाटक मे उसके अर्थशास्त्र से उदधृत होने का। दूसरा मान प्रतिमानाटक में बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का उल्लेख है, कौटिल्य का नहीं। किंतु यह कवि की अपने पात्रों की प्राचीनता दिखाने की कुशलता हो सकती है। मैंने

इडियन एटिक्वेरी (जिल्द ४२, सन् १९१३, पृष्ठ ५२) में दिखाया था कि पृथ्वीराजविजय के कर्त्ता जयानक और उसके टीकाकार जोनराज के समय तक यह साहित्यिक प्रवाद था कि भास और व्यास समकालीन थे। उनकी काव्यविषयक स्पर्धा की परीक्षा के लिये भास का ग्रथ विष्णुधर्म व्यास के किसी काव्य के साथ साथ अग्नि में डाला गया तो अग्नि ने उसे उत्कृष्ट समझ कर नहीं जलाया। पडित गणपति शास्त्री ने बिना मेरा नाम उल्लेख किए पृथ्वीराजविजय तथा उसकी टीका के अवतरण के भाव को यो कहकर उडाना चाहा है कि 'विष्णु धर्मान्' कर्म का बहुवचन काव्य का नाम नहीं, किंतु 'विष्णुधर्मात्' हेतु की पचमी का एकवचन है कि अग्नि मध्यस्थ था, परीक्षक था, विष्णु के स्थानापन्न था, उसने विष्णुधर्म से भास के काव्य को नही जलाया! विष्णु को यहाँ घुसेडने की क्या आवश्यकता थी? मैं अब भी मानता हूँ कि भास-कृत विष्णुधर्म नामक ग्रथ व्यास (?) कृत विष्णुधर्मोत्तर पुराण के जोड का हो सकता है तथा भास-व्यास की समकालिकता का प्रवाद अधिक विचार चाहता है। महाभारत के टीकाकार नीलकठ ने आरभ ही में 'जय' शब्द का अर्थ करते हुए पुराणों से 'विष्णुधर्मा.' को अलग ग्रथ गिना है। यहाँ भी बहुवचन प्रयोग ध्यान देने योग्य है। नीलकठ के श्लोक ये हैं—

अष्टादश पुराणानि रामस्य चरित तथा।
कार्ष्णं वेद पञ्चम च यन्महाभारत विदु॥
तथैव विष्णुधर्माश्च शिवधर्माश्च शाश्वता॰।
जयेति नाम तेपा च प्रवदन्ति मनीपिण॰॥

पूर्व पहली शताब्दी का मानते है। प्रतिमानाटक मे भास यह देवकुल का प्लाट कहाँ से लाया ? सुबंधु ने वासवदत्ता में पाटलिपुत्र को अदिति के पेट की तरह 'अनेक देवकुलो से पूरित' लिखा है[1]। यहाँ देवकुल मे देवताओ के परिवार और देवमंदिर का श्लेष है। क्या यह संभव है कि भास ने पाटलिपुत्र का शैशुनाक देवकुल देखा हो और वहाँ की सजीव सदृश प्रतिमाओ से प्रतिमानाटक का नाम तथा कथावस्तु चुना हो ? इक्ष्वाकुओ के देवकुल के चतुर्दैवत स्तोम[2] की ओर लक्ष्य दीजिए। पाटलिपुत्र के स्थापन

१—अदितिजठरमिवानेकदेवकुलाध्यासितम्।

२—यह ध्यान देने की बात है कि इक्ष्वाकु-कुल मे दिलीप, रघु, अज और दशरथ—ये चार नाम लगातार या तो भास में मिले हैं या कालिदास के रघुवंश में। दशरथ को अज का पुत्र तो वायु, विष्णु और भागवत पुराण तथा रामायण, सब मानते हैं। कुमारदास के जानकीहरण और अश्वघोष के बुद्धचरित मे भी ऐसा है। वायुपुराण की वंशावली में दिलीप और रघु के बीच में एक राजा और है, फिर रघु, अज, दशरथ हैं। भागवत में दिलीप और रघु के बीच मे १५ राजाओं और रघु और अज के बीच मे पृथुश्रवा का नाम है। विष्णुपुराण में दिलीप और रघु के बीच मे १७ नाम हैं, फिर रघु, अज, दशरथ हैं। वाल्मीकि रामायण में दिलीप और रघु के बीच में दो पुरुष हैं, रघु और अज के बीच में १२ नाम हैं। भास और कालिदास दोनो किसी और नाराशंसी या पौराणिक गाथा पर चले हैं। चमत्कार यह है कि दोनो महाकवि एक ही वंशावली को मानते हैं।

से नवनंदो द्वारा शैशुनाको का उच्छेद होने तक पॉच शैशुनाक राजा हुए। उनमे से अंतिम राजा की तो राज्यापहारी नंद (महापद्म) ने काहे को प्रतिमा खडी की होगी। अतएव शैशुनाक देवकुल में भी चार ही प्रतिमाएँ होंगी। इस चतुर्दैवत स्तोम मे से अज, उदयिन् तथा नंदिवर्धन की प्रतिमाएँ तो इंडियन म्यूज़ियम मे हैं। तीसरी को हाकिंस ले गया। चौथी अगम कुए के पास पुजती हुई कनिंगहम ने देखी थी। संभव है कि इनका भी पता चल जाय।

परखम की मूर्ति भी संभव है कि राजगृह के शैशुनाको के राजकुल की हो। यह हो सकता है कि वह किसी बडी भारी विजय या अवदान के[1] स्मरण मे परखम में ही खडी की गई हो।

१—लोकोत्तर सात्त्विक दान को अवदान कहते हैं। बुद्ध के अवदान प्रसिद्ध हैं। अवदान का संस्कृत रूप अपदान है। काश्मीरी कवि इसका प्रयोग करते हैं। आबू में प्रसिद्ध वस्तुपाल तेजपाल के मंदिर के सामने दोनो भाइयों तथा उनकी स्त्रियो की प्रतिमाएँ हैं। विमलशाह के मंदिर में भी स्थापक की प्रतिमा है। राजपूताना म्यूज़ियम, अजमेर में राजपूतदंपति की मूर्तियाँ हैं जो उनके संस्थापित मंदिर के द्वार पर थीं। पृथ्वीराजविजय में लिखा है कि सोमेश्वर (पृथ्वीराज के पिता) ने वैद्यनाथ का मंदिर बनाया और वहाँ पर अपने पिता (अर्णोराज) की घोड़े-चढी मूर्ति रीति धातु की बनवाई। इससे आगे का श्लोक नष्ट हो गया है किंतु टीका से उसका अर्थ जाना जाता है कि पिता के सामने उसने अपनी मूर्ति भी उसी धातु की बनवाई थी (दत्त हरि-

किंतु यह भी असंभव नहीं कि वह राजगृह से वहाँ पहुँची हो। मूर्तियों के बहुत दूर दूर तक चले जाने के प्रमाण मिले हैं। जीत-कर मूर्तियों का ले आना विजय की प्रशस्तियों में बड़े गौरव से उल्लिखित किया गया मिलता है। दिल्ली तथा प्रयाग के अशोक-स्तंभ भी जहाँ आजकल हैं, वहाँ पहले न थे। बड़े परिश्रम से तथा युक्तियों से उठवाकर पहुँचाए गए हैं।

नानाघाट की गुफा में पहले सातवाहनवंशी राजाओं की कई पीढ़ियों की मूर्तियाँ हैं। वह सातवाहनों का देवकुल है। मथुरा के पास शक (कुशान) वंशी राजाओं के देवकुल का पता चला है। कनिष्क की मूर्ति खड़ी और बहुत बड़ी है। उसके पिता वेम कैडफेसस की प्रतिमा बैठी हुई है। इस पर के लेख में 'देवकुल' शब्द इसी रूढ़ अर्थ में आया है। इस राजा को लेख में कुशान-पुत्र कहा है। वहीं पर एक और प्रतिमा के खंड मिले हैं। यह कनिष्क के पुत्र की होगी। तीसरी मूर्ति पर के लेख को फोजल ने मस्टन पढ़ा था, किंतु बाबू विनयतोष भट्टाचार्य ने उसे शस्तन पढ़ कर सिद्ध किया है कि यह चश्तन नामक राजा की मूर्ति है। यह टालमी नामक ग्रीक भूगोलवेत्ता का समसामयिक था, क्योंकि उसने

हयेनेव शुद्धरीतिमये हरौ। प्रकृतिं लम्भितस्तत्र शुद्धरीतिमयः पिता ॥ ८। ६६ ॥ पितुः रीतिमयस्य रीतिवाहारूढस्य प्रतिष्ठापितस्याग्रे रीति-मयं स्वात्मानं प्रतिष्ठाप्य राजा स सर्गे त्रिधा रीतिमयं कविरिवाकरोत् ॥)। यों वैद्यनाथ का मंदिर चौहानों का देवकुल हुआ।

पद देवमदिर का वाचक भी है, तथा मनुष्यो के स्मारकचिह्न का भी।[1]

सतियो तथा वीरो की देउलियाँ वहीं पर बनती हैं जहाँ उन्होंने देहत्याग किया हो। साँभर के पास देवयानी के तालाब पर एक घोड़े की देवली है जो लडाई में काम आया था।[2]

१—कोयम्बतुर जिले (मद्रास) में कुछ पुरानी समाधियाँ हैं। वे पाडुकुल कहलाती हैं। यह भी देवकुल का स्मरण है। ऐतिहासिक अधकार के दिनों में जो पुरानी तथा विशाल चीज दिखाई दी वही पाडवों के नाम थोप दी जाती थी, कहीं भीमसेन की कूॅडी, कहीं पाडवों की रसोई। दिल्ली के पास विष्णुगिरि पर विष्णुपद का चिह्न (बहुत वड़ा चरण) है। उसे कई साहसी लोग भीमसेन के पॉव की नाप मानते ही नहीं, सिद्ध भी करना चाहते हैं। बहुत से विष्णुपद मिले हैं, सभी इस हिसाब से भीमसेन के पैर के चिह्न होने चाहिएँ।

२—लेख के ऊपर कमल और सजे हुए घोड़े की मूर्ति है। नीचे यह लेख है—॥ १ श्रीरामजी (१) राजश्री नवाव मुकतार दौला बहादुरजी के मैं सन् १२२७, (२) सवत् १८६८ मिती वैसाख वदि ७ सोमवार के रोज जो वने, (३) र पै झगरा भयो तामै प० श्रीलाला जवाहर सींघजी कौ (४) घोडा सुरग काम आयौ ताकी देवली साभर मैं श्रीदेउदा (५) नीजी के ऊपर वनाई कारीगर धुआजवषस गजधर नै वना, (६) ई ॥

रजवाड़ो में राजाओं की छतरियाँ या समाधि-स्मारक वनते हैं। उनमें सुंदर विशाल चारो ओर से खुले मकान वनाए जाते हैं। कहीं कहीं उनमें शिवलिंग स्थापन कर दिया जाता है, कहीं अखंड दीपक जलता है, कहीं चरणपादुका होती हैं, कहीं मूर्ति तथा लेख होते है, परन्तु कई योंही छोड़ दी जाती हैं। जोधपुर के राजाओ की छतरियाँ शहर से वाहर मंडोर के किले के पास हैं। जयपुर के राजाओ में जितने आमेर में थे उनके श्मशानों पर उनकी छतरियाँ आमेर में हैं, जो जयपुर वसने के पीछे प्रयात हुए उनकी गेटोर में शहर के वाहर हैं। महाराजा ईश्वरीसिंहजी का दाहकर्म महलों में ही हुआ था, इसलिये उनकी छतरी महलों के भीतर ही है। डूंगरपुर में वर्तमान महारावल के पितामह की छतरी मे उनकी प्रतिमा सजीव सदृश है। वीकानेर के पहले दो तीन राजाओ की छतरियाँ तो शहर के मध्य में लक्ष्मीनारायण के मदिर के पास हैं, कुछ पुराने राजाओं की छतरियाँ लाल पत्थर के एक छोटे अहाते में हैं, वाकी राजाओ की छतरियाँ एक विशाल दीवाल से घिरे अहाते मे क्रम से वनी हुई हैं। प्रत्येक पर चरणपादुका हैं जहाँ प्रतिदिन पूजा होती है। प्रत्येक पर मूर्ति है जिसमे राजा घोडे पर सवार वनाया हुआ है। जितनी रानियाँ उसके साथ सती हुईं उनकी भी मूर्तियाँ उसी पत्थर पर वनी हुई हैं। शिलालेख प्रत्येक पर है जिसमें विक्रम सवत्, शक सवत्, मास, तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, सूर्योदय घटी आदि प्रयाण के दिन का पूरा पंचाग दिया है। वहीं सहमरण करनेवाली रानियो, दासियो आदि की

फुट ऊँचे हैं। उनके नीचे 'राजा-'राणी' अक्षर भी लड़कपन मे हम लोग पढा करते थे। गाँव के बुड्ढे पहचान लेते हैं कि यह अमुक का मूहरा है। कई वर्षों तक हम अपने पितामह की प्रतिमा को पहिचानते तथा उस पर जल चढ़ाते थे। पिछले वर्षों मे खेलते हुए लड़को ने या किसी और ने निवेश वदल दिया है। पत्थर रेतीला दरयाई बालू का है, इसलिये कुछ ही वर्षों की धूप और वर्षा से खुदाई वेमालूम हो जाती है[1]। पुरुष की मूर्ति बैठी बनाई जाती है, स्त्री की खडी। पुरुषमूर्ति के दोनो ओर कहीं कहीं चामर-ग्राहिणियाँ भी बनी होती हैं। राजाओ की मूर्ति घोडे पर होती है।

१—पत्थर का यह हाल है कि वहीं जवाली ग्राम में गुलेर के एक राजा का बनाया हुआ एक मदिर है जिसकी छाया की ओर की खुदाई की मूर्तियाँ ज्यो की त्यो हैं किंतु बौछाडवाले पखवाडे पर सब मूर्तियाँ साफ हो गई हैं। उसी की रानी के बनवाए हुए जवाली के नौण पर शिलालेख था जिसके कुछ पक्तियों की आदि के अक्षर आठ वर्ष हुए पढ़े जाते थे, किंतु दो वर्ष बीते जब मैं वहाँ गया तो उतने अक्षर भी नहीं पढे जा सकते थे, सब के सब खिर गए थे। इस समय लेख इतना ही पढा जाता था—ओं स्वस्ति श्रीगणेशा · (१) वदति पर्रं पु [प्र] (२) मीश्वर · (३) पा [श] (४) (५) (६) (७) (८) या ·· (९) नाधि [थिं] · (१०) भूयो भूयो · (११) राजराज'——`—' (१२) लेपालनोदो - - - -(१३) कृतोयम्। (१४)। ये अक पक्तियो के अत के सूचक हैं।

वस्त्र शस्त्र भी दिखाए जाते हैं। उस प्रांत में जहाँ जहाँ वाँ, नौण, तला आदि है[1] वहाँ सब जगह मूहरे रखे जाते हैं। सड़क के किनारे जो जलाशय मिलता है वहाँ गाँव पास हो तो ८-१० प्रतिमाएँ रखी मिलेंगी। कुल्लू, मंडी तथा शिमले के कुछ पहाड़ी राज्यों में भी यही चाल है। यह प्राचीन देवकुल की रीति अब तक उन प्रांतों में है जहाँ परिवर्तन बहुत कम हुए हैं।

१—वाँ = (संस्कृत) वापी, (बिहारी कवि) बाय, (मारवाड़ी) वाव। नौण = (संस्कृत) निपान (पाणिनि का निपानमाहावः), (मारवाड़ी) निवाण। तला = (संस्कृत) तडाग या तटाक (हिंदी) तालाब।

शैशुनाक मूर्तियाँ

शिशुनाक वंश के महाराजाओं की दो प्रतिमाएँ

लगभग सौ वर्ष हुए, गगा की बाढ़ का पानी उतर जाने पर, पटने से दक्षिण की ओर नदी तीर पर, बुकानन महाशय को पत्थर की एक विशाल मूर्ति मिली। यह सिर समेत पुरुष की मूर्ति थी, किंतु इसके हाथ-पाँव खडित और चेहरे के नाक आदि त्रुटित थे। ऊँचाई में यह पूरे पुरुष के आकार की थी और कुछ भद्दी थी, सुकुमार शिल्प का नमूना न थी। दुपट्टा कधे पर होकर पीछे को गया था। उस पर पीठ की ओर कधे के पास कपडे की सलवटो में कुछ अक्षर थे। मूर्ति को खोदकर बुकानन साहब के घर पर लानेवाले मजदूरो ने कहा कि कुछ वर्ष हुए देहात के दक्षिण भाग में एक खेत मे यह मूर्ति मिली थी और लोग इसे पूजने लगे, किंतु पहले दिन ही वहाँ पर आग लग जाने से इसका पूजन अशुभ समझकर लोगों ने इसका गगा-प्रवाह कर दिया था। उसी स्थान पर एक और ऐसी ही मूर्ति की टाँगें पृथ्वी के बाहर निकल रही थीं और एक तीसरी मूर्ति को हाकिम साहब उठवा ले गए थे। उस स्थान पर जाकर बुकानन साहब ने देखा तो ५०, ६० फुट लंबे ईंटों के मकान के ध्वंसावशेष पाए। उनमें से ईंट आदि तो लोग निकालकर ले गए थे। खोदने पर पहली मूर्ति के समान,

किंतु उससे मोटी और कुछ लंबी, दूसरी मूर्ति मिली। इसके पैर साबित तथा भुजाओं के कुछ अंश थे। सिर न था और बाएँ कंधे पर चँवर बना हुआ था। जैन साधु भी ऐसा ही चँवर (ओगा) रखते हैं। मिस्टर बुकानन ने समझा कि मंदिर और उसकी मुख्य प्रतिमा नष्ट हो गई हैं, ये परिचारकों या पार्षद देव-ताओं की प्रतिमाएँ हैं। तीसरी मूर्ति मिस्टर बुकानन ने देखी ही नहीं। ये दोनों मूर्तियाँ डाक्टर टेलर के हाथ लग गईं और उसके भाई ने सन् १८२० ई० में इन्हें बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी को भेंट कर दिया। वहाँ इनकी कुछ कद्र न हुई, पिछ-वाड़े के बगीचे की झाड़ियों में ये बरसों पड़ी रहीं। चालीस वर्ष पीछे इन पर बेगलर महाशय की दृष्टि पड़ी तब उसने उस समय के पुरातत्त्व विभाग के डाइरेक्टर सर अलिगजेंडर कनिंगहाम का ध्यान इनकी ओर खींचा। सन् १८७९ ई० में ये इंडियन म्यूजि-यम की भरहुत गैलरी में ऊँची चौकियों पर पधराई गईं। जेनरल कनिंगहाम ने अपनी पंद्रहवीं रिपोर्ट में इनका वर्णन किया। उस समय उसे याद आया कि पटने शहर के बाहर अगम कुआँ नामक स्थान के पास एक ऐसी ही तीसरी मूर्ति है जो ढंग, हाथों के निवेश और वेशविन्यास में ठीक इन विशालकाय मूर्तियों की सी है। अगम कुएँ के पास रहनेवाले ग्रामीण उस पर नया सिर लगाकर उसे माता माई के नाम से पूजते थे। संभव है कि वह कभी वहीं कहीं मिल जाय। यदि हाकिंसवाली मूर्ति यही हो तो तीन नहीं चार समानाकार मूर्तियाँ वहाँ से मिलीं।

जेनरल कनिंगहाम ने उनकी बहुत ही चमकदार पालिश या जिलश्र पर ध्यान देकर उनके शिल्प-सबधी महत्त्व को समझा और प्राचीन हिंदू शिल्प के नमूनो मे उन्हे सर्वोच्च स्थान दिया। यह जिलश्र मौर्य पालिश कहलाती है। मौर्यकाल से पहले की मूर्तियाँ तो उस समय मिली ही कहाँ थीं, मौर्यकाल के पीछे की चीजों में ऐसी सुदर दर्पणाकार पालिश नहीं मिलती। खोजियों ने यह भी माना है कि यह पालिश हिंदुस्तान की अपनी उपज नहीं, पर्शिया (ईरान) के कारीगरों की लाई हुई है। इस विषय पर पीछे विचार किया जायगा।

जेनरल कनिगहाम ने इन्हे यक्षों की मूर्तियाँ माना और उनके पीठ पर के लेखों को यो पढा—

[सिरवाली मूर्ति (१) पर] **यखे अचुसनिगिक** (अर्थात् अचुसनिगिक यक्ष)।

[बिना सिर की मूर्ति (२) पर] **यखे सनतनंद** (अर्थात् सनतनद यक्ष)।

कनिगहाम साहब के पीछे किसी ने इन मूर्तियो वा उन पर के लेखो पर ध्यान नहीं दिया।

यों ये मूर्तियाँ सन् १८१२ मे मिलीं, सन् १८७९ में उनका स्वरूप ज्ञात हुआ, किंतु उनका वास्तव विवरण सन् १९१९ मे बाबू काशीप्रसाद जायसवाल ने किया। जायसवाल महाशय ने खूब विचार कर निर्णय किया है कि ये दोनो मूर्तियाँ शिशुनाक वश के दो महाराजाओ की हैं। बुकानन साहब ने जिस ईंट के मकान

का उल्लेख किया है वह शैशुनाक राजाओं का देवकुल था। देव-कुल क्या होते थे तथा भास के प्रतिमा-नाटक से उनके विषय मे क्या जाना जाता है इस पर इसी अंक* मे एक पृथक् लेख पढ़िए। पहली (सिरवाली) मूर्ति शैशुनाकों के देवकुल मे से महाराज अजउदयिन् की है जिसने पाटलिपुत्र बसाया और जिसका समय ईसवी सन् पूर्व ४८३ से ४६७ है। दूसरी (बिना सिर की) मूर्ति प्रसिद्ध विजेता सम्राट् नंदिवर्धन की है जिसका समय ईसवी सन् पूर्व ४४९ से ४०९ है। लेख दोनों पर इस प्रकार हैं—(१) भगे अचो छोनीधीशे (२) सपखते वट नंदि, या षपखेते वेट नंदि।

दीदारगंज की प्रतिमा

ता० १८ अक्तूबर सन् १९१७ को पटने से पूर्व गंगातीर पर नसीरपुर ताजपुर हिस्सा खुर्द, या दीदारगंज कदम रसूल, मे एक मुसलमान सज्जन को कोई बडा पत्थर गडा दिखाई दिया। खोदने से जान पडा कि वह एक मूर्ति की चौकी थी। मूर्ति निकलते ही बाँस की छतरी बनाकर लोग उसे पूजने लग गए किंतु कई उत्साही खोजियो के उद्योग से यह मूर्ति बचाकर पटना म्यूजियम मे पहुँचा दी गई। विहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल की मार्च १९१९ की संख्या मे डाक्टर स्पूनर ने इस प्रतिमा के विषय मे एक लेख लिखा है। यह किसी चामरग्राहिणी स्त्री की प्रतिमा है जो किसी मंदिर या महल की देवमूर्ति या राजमूर्ति के दाहिने हाथ पर खडी हुई परिचारिका हो। साधारण परिचारिका के भूषण तथा शृंगार

*दे०—इस ग्रंथ में पृष्ठ ११६-१३५—संपादक।

गोल विंदे में सिमटी हैं और सिर पर भिन्न धाराओं में जाकर, सुंदर लटों के विशेष रूढि से गुँथे हुए केशपाश तक चली गई हैं। पैरो मे घुँघरू हैं। क्या वस्त्र, क्या भूषण, और क्या सिर चेहरे तथा नेत्रो के भाव, सब में प्रतिमा मनोहारिणी है। भावभंगी बहुत ही नैसर्गिक है। कुछ उभकन और चमरवाले हाथ का बल अच्छी तरह दिखाया है। आँख का कटाक्ष ठीक वैसा ही है जैसा कुमराहर में उपलब्ध मौर्यकाल के सिर में है। नंगे अंगो की वनावट बहुत चमत्कारिणी है। नीचे तथा पीछे का भाग उतना अच्छा नहीं। पृथुजघना का कविसंकेत ठीक निबाहा नहीं गया।

वेश मे बेसनगर की प्रतिमा की इससे समानता है। उसमें कौंधनी ऐसी ही है किंतु केशविन्यास और तरह का है। यह ऐतिहासिक पालिश भी उसमें नहीं है तथा और कई बातों में वह इससे भद्दी है। नीचे के भाग मे उसमे भी यही न्यूनता है। अंगो की वनावट में भरहुत गैलरी की (शैशुनाक) प्रतिमाएँ इसके समान नहीं, किंतु भावगठन आदि में यह दीदारगंज की चामरग्राहिणी तथा शैशुनाक मूर्तियाँ एक ही शिल्प-संप्रदाय की हैं।

संभव है कि यह मूर्ति किसी गणिका की हो। बौद्ध जातको (६।४३२) में उल्लेख है कि राजमहलो मे मातृकाओं की सजीव-सदृश प्रतिमाएँ रहा करती थीं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार (पृष्ठ १२३) मातृकाएँ एक प्रकार की दरबारी गणिकाएँ होती थीं जो त्यौहारों के अवसर पर राजचिह्न (चामर, भृंगार आदि) लेकर राजा की सेवा में उपस्थित होती थीं। क्षेमेंद्र की समयमातृका

मे ऐसी ही चतुर मातृका (गणिका, वारस्त्री) की कथा है। कवियो ने 'एतासामरविन्दसुन्दरदृशां द्राक् चामरान्दोलनादुद्वेलद्भुज-वल्लिकङ्कणझणत्कार.'[1] तथा 'लीलावलयरणित चामरग्राहिणीना'[2] का वर्णन किया है। यह विभूषण-विभूषित प्रतिमा भी किसी गणिका की होगी जो किसी राजमहल के सहन मे रखी गई होगी।

अस्तु, यह प्रतिमा भी मौर्य-पालिश के कारण यक्षिणी मानी गई। पटना म्यूजियम मे इस पर यक्षिणी का टिक्टि (लेवल) लगाया जाने लगा। जायसवाल महाशय ने सोचा कि भारतवर्षीय शिल्प में साकेतिक व्यवहार यह है कि यक्षो तथा यक्षिणियो की नाक चिपटी और गाल की हड्डियाँ निकली हुई होती हैं। इस गोल ठुड्डी तथा उभरे वक्षस्थल की आर्यमहिला को यक्षिणी क्यो कहा जाता है ? तब कनिगहाम साहब की दुहाई देकर कहा गया कि इडियन म्यूजियम की भरहुत गैलरी की विशालकाय प्रतिमाएँ भी तो उन पर के लेखों से यक्षो की सिद्ध होती हैं।

इस पर जायसवाल महाशय ने उन मूर्तियों पर के लेखो की छापो को देखा तो उन पर यक्ष पद ही कहीं न था।

मूर्तियों का विवरण

मूर्तियाँ मिरजापुर या चुनार के मटमैले रेतीले पत्थर की बनी हुई हैं। इन पर मौर्य-पालिश है। जहाँ मूर्तियाँ पहले थीं वहाँ

१—भोजप्रबंध। २—उद्भट।

अवश्य अग्निकोप हुआ होगा, उसो से रग पीला पड़ गया है। इसी तरह के पत्थर पर अशोक के स्तभाभिलेख हैं और अशोककालीन प्रतिमाएँ भी इसी पत्थर की मिली हैं। उन सब पर भी यही उत्कृष्ट पालिश है। दोनो मूर्तियो के हाथ टूटे हैं। अज की मूर्ति मे धोती के फूँदे तथा पैर पलस्तर से भद्दी तरह पुन बनाए गए हैं। नदि की मूर्ति के सिर ही नहीं है। अज के नाक आदि कुछ खडित हैं। उसके दुहरी ठुड्डी है। बाल किसी विशेष शैली से पीछे की ओर सँवारे हुए हैं। चेहरे पर दाढी मूँछ नहीं है। मूर्ति छ फुट ऊँची है। नदि की मूर्ति उससे कुछ ऊँची, गठीली और मोटी है। वर्त का अर्थ पीतल या लोहा होता है सो मूर्ति देखने से 'वर्तनदि' नाम दृढता के विचार से अन्वर्थ जान पड़ता है। प्रतिमाओ मे सजीवता है, जीव-सदृश कल्पना है। नीचे का वस्त्र धोती है, आगे वह कुछ ऊँची है जिससे पैर दिखाई देते रहे। पीठ की ओर लगातार सलवटो की लहरों से धोती एडी तक दिखाई गई है। धोती के पीछे लाँग या मोरी लगी हुई नही है। धोती के ऊपर सलवटदार गुलाईवाला कमरबंद है जो धोती तथा मिरजई को सँभाले हुए है। इस कमरवद पर धोती के छोर की फूलदार घुलवाँ गाँठ है जिससे गुलाईदार पल्ले लटके हुए हैं। उनके सिरो पर फूँदे हैं। पल्ले तथा सिमटी धोती की वत्ती और फूँदे अच्छे वने हैं। ऊपर का वस्त्र एक चौडा दुपट्टा वा उत्तरीय है जो सामने वाँए कधे के ऊपर से गया है। पेट पर वह जनेऊ की तरह पड़ा है। वीच में छाती पर दुपट्टे मे एक गुलाईदार गाँठ है। पीठ पर भी दुपट्टा तिरछी सलों

में सिमटा हुआ गया है। बाएँ कंधे पर से उसका पल्ला नीचे एड़ी तक चुनावटदार लंबाई मे लटक रहा है। अज की बाँह पर अंगद ठीक वैसा ही है जैसा भरहुत स्तूप के कठहरे के राजाओ की मूर्तियो मे है। नदि के अंगद मकर-मुख हैं, उन पर स्वर्णकारो के सांकेतिक वेल-बूटे हैं। अज के कानों में कुडल हैं। दोनों में दुपट्टे के नीचे एक अधोवस्त्र मिरजई का सा होना चाहिए। मोटे निकले हुए पेट, कमर की त्रिवलि तथा नाभि का विन्यास यही सूचित करते हैं। इस मिरजई की कंठी पर बुनगट के काम का हाशिया है। दोनों मूर्तियो में इसकी बूटेकारी न्यारी न्यारी है। गले मे एक चाँद या निष्क है। इस गहने की डोर पीछे बँधी हुई है और उसके फुँदे लटक रहे हैं। वैदिक राज्याभिषेक प्रकरण मे भी ऐसे हो वस्त्र वर्णित हैं। जूतो का वर्णन प्राचीन काल से चला आता है, किंतु मूर्तियों में नगे पैर दिखाने का कदाचित् यह आशय है कि प्रजा राजा के पैरों को पूजती थी[१]। नदि के कधे पर एक चँवरी है।

१—राजसूय प्रकरण में इतने वस्त्रों का वर्णन* है—(१) तार्प्य-तार्प्य या क्षौम, तृपा या क्षुमा नामक रेशेदार घास का वना हुआ एक तरह का सनिया या टसर होता था या जिसे बुनते समय तीन बार जल या घी से तर किया जाता था। यह भीतर का वस्त्र होता था जिस पर यज्ञपात्रों की मूर्तियाँ सुई के काम से काढी हुई होती थीं। (२) पाण्ड्व कंवल, विना रँगे ऊन का ऊपर का वस्त्र। (३) अधी-वास, लवादा या चोगा। (४) उष्णीष, लवी पगड़ी जिसे सिर पर

*दे०—इस ग्रंथ में पृष्ठ ६८-६९—सपादक।

मौर्य-पालिश और शिल्पकार

कंधे पर से दुपट्टे का जो पल्ला नीचे तक लटका है उस पर सलवट की समानातर गहरी रेखाएँ हैं। उन रेखाओं के नीचे, कंधे के पास ही, लेख हैं। दुपट्टे की सलवट बनाने के पहले ही शिल्पी ने लेख के अक्षर खोदे थे। वस्त्र की रेखा अक्षरों को बचाकर गई है, उनके ऊपर से गई है, उनके रहते हुए बनी है। चतुर शिल्पी ने अक्षरों के रहते हुए भी वस्त्र की भगी को नही बिगड़ने दिया। कनिगहाम साहब इन मूर्तियों को अशोक-काल की मानते थे, किंतु लेख के अक्षरो को नवीन समझकर उन्हें ईसवी सन् के आरभ की कह गए। कलकत्ता विश्वविद्यालय के भारतीय शिल्प के वाचक अरुण सेन महाशय का मत है कि अक्षर

लपेटकर दोनों छोर कमर की मोरी में या नाभि के पास खोंसे जाते थे। कुछ लोग सिर पर ही लपेटते थे, नाभि के पास नहीं खोंसते थे। (स्त्रियाँ भी उष्णीष बाँधती थीं, क्योकि एक जगह 'इन्द्राण्या उष्णीष' कहा है) इन चारों वस्त्रों को रूपक से गर्भरूप क्षत्र (क्षत्रियत्व) के उल्ब, जरायु, योनि और नाभिनाल कहा है। (५) वराहचर्म के जूते—बिना केशवपनीय इष्टि किए वर्ष भर तक राजसूययाजी को बाल न मुँड़वाने चाहिएँ और गद्दी पर भी जूते पहने ही बैठना चाहिए। [देखो, शतपथ ब्राह्मण, ५।२—५; 'मर्यादा', दिसबर-जनवरी १९११—१२, में मेरा लेख*]। सूर्य की मूर्ति में घुटनों तक के फुलबूट होते हैं और सब देव-मूर्तियो के पाँव नगे बनाए जाते हैं।

---

*दे०—इस ग्रथ में पृष्ठ ५४ से ८३—सपादक।

दुपट्टे की रेखाओं से पहले बने हैं, तथा शिल्प-संबंधी विचार से मूर्तियाँ मौर्यकाल के पूर्व की हैं। मौर्यकाल के शिल्प में एक प्रकार की उन्नति या अधःपात दिखाई देता है। इन प्रतिमाओं में उस शिल्प का प्राचीन युग है। दोनों प्रतिमाएँ एक ही उस्ताद के हाथ की नहीं, तो भी दोनों कारीगर एक ही संप्रदाय के थे। केशों की सांकेतिक बनावट, पैरों का पारिभाषिक भद्दापन, सब इस शिल्परूढ़ि का पुरानापन सिद्ध करते हैं। मौर्य पालिश कहती है कि ये मूर्तियाँ मौर्यकाल के पीछे की नहीं हो सकतीं। लेख उसी समय के हैं जिस समय की प्रतिमाएँ हैं। लिपि मौर्यकाल से प्राचीन है, मौर्यलिपि की पूर्वज लिपि है। अतएव प्रतिमा तथा लेख, शिल्प तथा लिपि-विचार से, मौर्य-काल के पहले के हैं। रहे पालिश और उसके ईरानी जन्म, सो यही दर्पणाकार चमकदार पालिश बाबू शरच्चन्द्र दास ने जायसवाल महाशय को एक 'वज्र' पत्थर के टुकड़े पर दिखाई जो मौर्यकाल से भी बहुत प्राचीन है। शाक्यस्तूप के घियाभाटे के पात्र (पिपरावा पात्र) पर भी, जो मौर्यों से पहले का है, यही पालिश है। इन्हीं मूर्तियों की प्राचीनता इस पालिश की प्राचीनता सिद्ध करती है। अतएव इस पालिश का जन्म हिंदुस्तान में, जहाँ वह 'वज्र' बना, मानना चाहिए, पर्शिया (ईरान) में नहीं।

चँवरी

नंदि के कंधे पर चँवरी देखकर यह कहा जा सकता है कि यह राजा की मूर्ति नहीं है, किसी परिचारक या यक्ष की है किंतु

यह साधारण नियम नहीं कि राजा चँवरी हाथ मे न रखे या परिचारक ही चँवरी रखे। अजंता की गुफा में एक चित्र है जिसमें रानी थाली पर कमल रखकर एक राजा के सामने पेश कर रही है। यह राजा हंसजातक का राजा है क्योंकि सिंहासन पर हंस बने हुए हैं। उसके हाथ में चँवरी है। और भी कई राजाओं के चित्रो मे हाथ में चँवरी है। एक सचित्र जैन-रामायण मे राजाओं के हाथ मे चँवरियाँ बनी हुई हैं। मुसलमानी समय के चित्रों मे हाथ में चँवरी देना एक सौंदर्यकला थी। जैन यति चँवरी (पिच्छिका) हाथ में रखते थे।

लिपि-विवेचन

मूर्तियों को अशोक के समय की मानने को तैयार होकर भी जिन 'पीछे के', ईसवी सन् के प्रारंभ के आस-पास के, अक्षरो के भरोसे जेनरल कनिंगहाम ने पुरानी न समझा था वे अक्षर विचार करने पर बड़े अद्भुत निकले। हिंदुस्तान की प्राचीन लिपियों में जितने प्रकार के अक्षर मिले हैं उनमें से किसी शैली से भी वे पूरी तरह नहीं मेल खाते। ये अति प्राचीन ब्राह्मी अक्षरों से भी प्राचीन रूप जान पड़े। इन अक्षरो का पढ़ना यही मानकर संभव हो सका है कि ये अशोक लिपि के अक्षरो के भी मूल अक्षर हैं, अर्थात् जिन अपरिस्फुट, श्रमसाध्य वर्णों का व्यवहार करते करते परिमार्जित होकर अशोकलिपि के सुडौल अक्षर विकसित हुए हैं वे वर्ण ये ही हैं।

सिरवाली प्रतिमा पर का लेख, जायसवाल महाशय के अनुसार, भगे अचो छोनीधीशे है। पहले दो अक्षर अलग खोदे

हैं, मानो पदच्छेद किया है। दूसरे दो अक्षर कुछ बड़े हैं तथा यह जोड़ा भी पृथक् है, मानो नाम होने के कारण न्यारा पद बनाया गया है। पहला अक्षर 'भ' है। यह कलम को तीन दफा उठाकर तीन रेखाओ से बना है। अशोकलिपि का 'भ' दो ही रेखाओ से बनता है। इसी से उसमे ऊपर की ओर नोक सी उठ गई हुई मिलती है। अर्थात् यह 'भ' पूर्वरूप है। अशोकलिपि का 'भ' मँजा हुआ है। दूसरा अक्षर 'ग' है। बाईं ओर की रेखा के अत में नोक है और दाहिनी ओर की कुछ टेढ़ी है। अशोकलिपि के 'ग' की दोनो रेखाएँ या तो कलम उठाए बिना ही बनती हैं, या दोनों अंश सहज और समान बने होते हैं। भट्टिप्रोलु के लेख के 'ग' में दोनों रेखाओं मे असमानता रह गई है। यो यह अक्षर भी अशोकलिपि के 'ग' का पूर्वरूप हुआ। तीसरे अक्षर 'अ' को देखिए। इस प्राचीन रूप में दोनो कान बहुत विलग हैं। धीरे धीरे उनकी गुलाई घटी, वे पास पास आए और दो रेखाओ से बननेवाला अशोकलिपि का 'अ' बन गया। चौथे अक्षर 'च' में यह विशेषता है कि इसकी खड़ी लकीर नीचे के अक्षराश से पृथक् रहकर आगे को बढ़ी हुई है। यह तीन रेखाओं से बना है। अशोकलिपि का 'च' दो ही रेखाओं से बना है—एक तो ऊपर की खड़ी रेखा, दूसरी नीचे के वर्ण को कलम बिना उठाए बनाती है। अशोक के गिरनार लेख में 'च' का एक नमूना इससे कुछ मिलता है। पुराने जाने हुए अक्षरों में यह 'च' ही मूर्ति के 'च' से मिलता है। पाँचवें तथा छठे अक्षर

'छ' तथा 'न' तीन तीन रेखाओ से बने हैं। अशोकलिपि में वे दो दो रेखाओं से बने जान पड़ते हैं। इस 'न' तथा अशोक के समय के 'न' की समानता केवल दिखाई देने की है, वास्तव नहीं। सातवाँ अक्षर 'ग' नहीं हो सकता, 'ट' नहीं हो सकता (क्योंकि ये अक्षर स्थानांतर में इन्हीं मूर्तियों पर असदिग्ध मिलते हैं), 'ए' नहीं हो सकता (क्योंकि ई की मात्रा स्पष्ट लगी हुई है), यह अशोकलिपि के 'ध' का ही पूर्वरूप माना जा सकता है। ऊपर से दो रेखाएँ नीचे की ओर खींचकर नीचे एक आधार की रेखा उन दोनों को मिलाती हुई बनाने से यह तीन कलमों से बना है। अशोक का 'ध' इसी का विगडा या सुधरा रूप है जो एक सीधी तथा एक गुलाईदार रेखा से बनता है। भट्टिप्रोलु के स्तूप का 'ध' इस 'ध' तथा अशोक के 'ध' का मध्यवर्ती रूप जान पडता है। अतिम अक्षर 'श' है। यह तीन रेखाओ से बना होने से ईसवी चौथी शताब्दी का 'के' नहीं हो सकता। यह भी भट्टिप्रोलु के 'श' तथा अशोकलिपि के 'श' का पूर्वज है। ऊपर की मध्यरेखा पिछले रूपों मे छोटी होती चली गई है, ऊपर का भाग बिलकुल न रहकर नीचे का अश दोनो ओर की रेखाओ से लबा हो गया है। इस 'श' में ये रेखाएँ ऊपर की ओर हैं किंतु पिछले रूपों में नीचे की ओर हैं।

विना सिर की मूर्ति का लेख यह है—**सपखते वट नंदि** या **पपखेते वेट नंदि**।

पहला अक्षर 'ष' का पुराना रूप हो सकता है, किंतु मूर्ति की कोहनी से ऊपर की सलवट तक एक पतली रेखा और है, जो या तो पत्थर की दर्ज है या सलवट का ही अंश हो। उसे इस अक्षर का भाग न मानें तो यह 'स' है। इस अक्षर के तीन अंश हैं—एक तो भीतरी रेखा से नोक तक, दूसरा नोक से दूसरे अक्षर की आड़ी रेखा तक अर्द्धवृत्त, तीसरा नोक के ऊपर का सिरा। अशोकलिपि मे स और ष दोनो द्विरेखात्मक वर्ण हैं, उनमें बिचली रेखा सीधी नहीं होती। वस्तुत· 'स', 'श', 'ष' मे उतना भेद न उस समय की भाषा मे था, न लिपि में। दूसरा अक्षर तीन भिन्न रेखाओं से बना है, एक दाहिनी ओर की सकोण रेखा ऊपर से नीचे को, दूसरी बाँईं ओर नीचे से ऊपर को, तीसरी आधार रेखा। यह बनावट 'प' की है, 'ल' की नहीं। दाहिनी रेखा बाँईं से कुछ छोटी है। अशोकलिपि के 'प' के एक ही कलम से बनने से उसकी बाँईं रेखा बहुत ही छोटी होती गई है। यह 'ब' भी हो सकता है। तीसरा अक्षर 'ख' है जो चार रेखाओं से चौखूँटा बना है, ऊपर को तुर्रा है। अशोकलिपि में चारों खूँटें गुलाई पा जाती हैं जिससे चारों रेखाओं का पृथक्त्व मिट सा जाता है। तुर्रा भी नीचे लटक आया है, उसकी नोक मिट गई है, मानों लिखना अधिक सरल और सहज हो गया है। चौथे अक्षर 'त' की दो टाँगें हैं और ऊपर सिर अलग जोड़ा है। अशोक के समय तथा पीछे के 'त' दो ही रेखाओ से बने हैं। पाँचवे अक्षर 'व' मे बगलों की दोनों रेखाएँ कुछ गुलाई लिए हुए हैं। आधार रेखा

आडी पृथक् है। ऊपर को खड़ी लकीर है। भट्टिप्रोलु का 'व' इससे कुछ मिलता है। अशोकलिपि का 'व' बिलकुल गोल हो गया है। एक वृत्त और दूसरी ऊपर की खड़ी रेखा, यो दो ही रेखाओं का बनता है। छठा अक्षर 'ट' अशोकलिपि का है। सातवाँ 'न' पहली मूर्ति में भी है। अंतिम अक्षर तीन चार बार कलम उठाकर बनाया है। दिल्ली के अशोक लेख का 'द' इससे कुछ मिलता है, बाकी 'द' एक ही कलम से बनते थे।

मात्राओं में ए की मात्रा अक्षर की बाँईं ओर एक आडी या तिरछी रेखा है (देखो गे, शे, खे, ते)। यही मात्रा बढ़कर पीछे बँगला में बाँई ओर आ गई, जैन पोथियों में पड़ी मात्रा हो गई और हिंदी में वर्ण के ऊपर चली गई। ओ की मात्रा वर्ण के सिर पर आडी रेखा है (देखो चो, छो, में सिरे की मुटाई। ते पर 'ए' की मात्रा 'ओ' की सी है)। इ की मात्रा वर्ण पर एक खडी रेखा (देखो दि) और ई की मात्रा दो खड़ी रेखाएँ हैं (देखो, नी, धी)। अनुस्वार (नं पर) स्पष्ट है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पहले जो अक्षर तीन या अधिक रेखाओं से कलम उठाकर बनाए जाते थे, वे अशोकलिपि में दो एक रेखाओ से बिना कलम उठाए बनने लगे। ये अक्षर आयास-साध्य हैं, अशोक के अक्षर अनायास बनते हैं। विकासक्रम में धीरे तथा श्रम से बननेवाले अक्षर (जैसे इन मूर्तियो के) पुराने होते हैं, गुलाईदार (घसीट या शिकस्ता) पीछे के। इन अक्षरों

तथा अशोकलिपि के अक्षरों में विकास का वही संबंध है जो अशोक के लेख तथा रुद्रदामन् के लेखो में है।

यह संभव है कि मौर्यकाल के पहले दो तरह की लिपियाँ प्रचलित हों, दोनों पहले की मूल ब्राह्मी के रूपांतर हों। उनमे से एक के अक्षर तो ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी के ये ही हैं, दूसरी आगे चलकर मौर्यों की राजलिपि हो गई हो। उधर दक्षिणी लिपि, मथुरा, पभोसा, हाथीगुंफा के लेखों के कई अक्षर इसी मूर्तियोंवाली लिपि के वंशज हैं। मौर्य काल के पीछे एक ही काल की लिपियों में इतने अवांतर भेद मिलते हैं कि विना दो मूल लिपि माने ईसवी सन् पूर्व तीसरी शताब्दी की एक ही मूल लिपि से वे सब निकले हों यह मानना कठिन है। बौद्ध तथा जैन पुस्तको मे ब्राह्मी लिपि के साथ साथ ही पौष्करसादी लिपि का भी नाम मिलता है। सभव है कि ये इन्हीं दोनो पुरामौर्य लिपियो के नाम हो।

लेखों का अर्थ तथा उनकी भाषा

भगे अचो छोनीधीशे का अर्थ 'भगवान् (=ऐश्वर्ययुक्त) अच (अज) क्षोणि+अधीश (=पृथ्वीपति)' है। भगे वैदिक साहित्य में आता है जिसका अर्थ संबोधन में ऐश्वर्ययुक्त स्वामी या महामहिम प्रभु होता है। दूसरे लेख का अनुवाद यह होगा— 'सर्वक्षेत्र [पति] या सर्वक्षिति [पति] वर्त नदि'। सप को पप या सब पढ़ने से या वट को वेट पढ़ने से भी इन प्राकृत शब्दो की सस्कृत छाया सर्व और वर्त ही रहेगी। अर्थशास्त्र (पृष्ठ ३३८) में राज्य के अर्थ में क्षेत्र पद आया है। बौद्ध धर्म-ग्रंथों की पाली

भाषा ही इन लेखों की भाषा है। शैशुनाक काल में वही राजभाषा रही हो यह प्रतीत होता है, संस्कृत नहीं। इस भाषा में 'ज' को 'च' हो जाता है (**अजो** का **अचो**)। वैयाकरणों ने इसे उत्तर-पश्चिमी प्राकृत अर्थात् राजकीय पाली का एक लक्षण माना है (जैसे **प्राजन** का **प्राचन**, अशोक लेखो मे **व्रजन्ति** का **व्रचन्ति**)। **सर्व** का **सप** होना भी पाली के अनुकूल ही है (जैसे **प्रजावती** का **पजापति**)। **क्ष** का **छ** (**क्षोणी** का **छोनी**) भी पाली लेखों में बहुत मिलता है (जैसे **क्षुद्र** का **छुद्दो**)। क्षोणि + अधीश की संधि छोनीधीशे (संस्कृत क्षोण्यधीश) होना पाली व्याकरण से सिद्ध है। भर्ग तथा क्षेत्र शब्दों का प्राचीन अर्थों मे प्रयुक्त होना भाषा की प्राचीनता सिद्ध करता है।

इतिहास

पुराणों में पाटलिपुत्र के शैशुनाक राजाओं की नामावली मे नंदिवर्धन का नाम है। इसमें नाम तो नंदि ही है, वर्धन विजय-सूचक उपाधि है, नाम का अंश नहीं, जैसे हर्ष के लिये हर्षवर्धन, अशोक का अशोकवर्धन। वायु, ब्रह्मांड तथा मत्स्य पुराणो मे नंदि को उदयिन् का पुत्र लिखा है। विष्णुपुराण में उदयिन् को उदयाश्व कहा है। भागवत मे नंदि को आजेय अर्थात् अज का पुत्र लिखा है और उदयिन् के स्थान पर अज नाम दिया है। उधर अवंती की राजनामावली में प्रद्योतवंश के समाप्त होने पर नंदिवर्धन का नाम है। ये दोनों नंदि एक ही हैं, अर्थात् पाटलिपुत्र का नंदि ही अवंती (उज्जैन) का राजा भी हुआ। वहाँ पर वायु, ब्रह्मांड

और विष्णुपुराणों में उसके पिता का नाम अजक या अज लिखा है। मत्स्यपुराण की एक पुरानी प्रति मे अज को शैशुनाक कहा गया है। अतएव कोई संदेह न रह गया कि शैशुनाक नंदि के पिता उदयिन् और अवंती के नदि के पिता अज दोनों एक ही व्यक्ति हैं। अज तथा उदयिन् दोनो का अर्थ सूर्य होता है, इसी लिये मत्स्यपुराण मे प्रद्योतवंश के प्रसग में इस राजा का नाम सूर्यक लिखा गया है। वायुपुराण में अवती के वश मे नदिवर्धन का पाठातर वर्तिवर्धन भी मिलता है; वर्ति का प्राकृत रूप वट्टि या वटि होता है। मूर्ति के लेख से अनुमान कर सकते हैं कि प्राकृत वट या वेट का संस्कृत रूप 'वर्त' होना चाहिए, वर्ति नही। पोथियो की २३०० वर्ष की लेख-परंपरा मे एक मात्रा की गडवड़ क्षंतव्य है।

पुराणो मे नदि के पुत्र का नाम महानदि या महानंद दिया है। उत्तरी बौद्ध ग्रंथो में उसे नंद और महानंद लिखा है। जैन लोग नद, उसके पिता, और पुत्र तीनो के लिये नंद नाम का ही व्यवहार करते हैं। खारवेल के लेख में भी नंद ही नाम दिया है। पुराणों में 'नद राज्य' का काल १०० वष दिया है जिसमें अनिरुद्ध के राज्य के ९, मुंड के ८, नदिवर्धन के ४०, महानद के ३५ और महानद के पुत्रों के ८ वर्ष सम्मिलित हैं। मुंड और अनिरुद्ध वर्तनंदि के भाई थे। यो पुराणो में भी नदिवश को नदवंश कह दिया है। ये शैशुनाक नंद थे, इनके पीछे जो संकर नंद हुए उन्हे नवनंद (नए नंद) कहा गया है। एक जैन ग्रंथ मे जिस नंद को चद्रगुप्त मौर्य ने हराया उसे नवनद कहा है।

अज-उदयिन् का समय ई० पू० ४८३ से आरभ होता है और पुराणों के अनुसार ४४९ ई० पू० तथा बौद्ध लेखो के अनुसार ई० पू० ४६७ तक है। नंदि के राज्य का अत पुराणों के अनुसार ४०९ ई० पू० है। अतएव प्रथम मूर्ति का काल ई० पू० ४६७ से ४४९ तक है, तथा द्वितीय मूर्ति का ई० पू० ४०९ है, क्योकि मूर्तियाँ राजाओ के परलोकवास के पीछे देवकुल में स्थापित की गई होंगी।

जैन लेखो में अवती के इतिहास के वर्णन में नद वश का वर्णन करते समय पालक वश के पीछे उदयिन् का राज्य करना लिखा है। पुराणों के अनुसार नदि अवती का विजेता मान लिया गया था इसलिये पौराणिक और जैन लेखों में यह विसवाद प्रतीत होता था। अब अज और उदयिन् की एकता स्थापित हो जाने से और पुराणों में शैशुनाक अज का अवती की वशावली के अत में नाम होने से यह भेद मिट गया। उदयिन् (अज) ने ही अवंती को जीतकर मगध का राज्य बगाले की खाडी से अरब सागर तक फैलाया और अवंती का जो आतक शताब्दी भर से मगध के सिर पर था उसे दूर किया।

प्रद्योतवश का अत विशाखयूप नामक राजा से हुआ। विशाखयूप को ही आर्यक गोपालक मानना चाहिए। भास तथा कथासरित्सागर (अर्थात् बृहत्कथा) के अनुसार वह प्रद्योत का पुत्र था और मृच्छकटिक के अनुसार वह पालक के प्रजापीडन से विप्लव होने पर राजा हुआ।

पुराणों में अवंती में अज का राज्यकाल २१ वर्ष और मगध में उदयिन् का राज्य ३३ वर्ष लिखा है। उदयिन् के राज्यकाल के १२वें वष (ई० पू० ४७१ के लगभग) अवंती के राजवंश का अंत हुआ होगा। जैन वंशावलियों के अनुसार अजातशत्रु के राज्य के छठे वर्ष में पालक (अवती की) गद्दी पर बैठा। अजात-शत्रु के छठे वर्ष तथा उदयिन् के १२वे वर्ष का अंतर ७४ वर्ष होता है। अर्थात् पालक और विशाखयूप ने ७४ वर्ष राज्य किया। पुराणो में इन दोनो का राज्यकाल भी २४ और ५० अर्थात् ठीक ७४ वर्ष ही दिया है। किंतु जैन वंशावलियों मे इन दोनों के ६० या ६४ ही वर्ष दिए हैं जिसका समाधान यह हो सकता है कि मृत्यु के पहले दस वर्ष तक विशाखयूप मगध के उदयिन् राजा के अधीन रहा हो, अर्थात् उसका अस्तित्व पराधीन होकर भी बना रहा हो या उदयिन् के अवंती में राजा होने के समय से उसका राजकाल न गिनकर मगध में गद्दी पर बैठने के समय से गिन लिया गया हो और पालक के पीछे उसी का समय गिनने से प्रद्योतवंश के वर्ष कम रह गए हों।

पुराणों में अवंती के (प्रद्योत) राजवंश के समाप्त हो जाने पर भी वहाँ की वंशावली जारी रखी, इसका अर्थ यह हो सकता है कि उदयिन् ने विजेता होकर भी यावज्जीवन अवंती के राज्य का मगध से पृथक्त्व रखा और उसके पुत्र नंदि ने भी ३० वर्ष तक वैसा ही किया। मत्स्यपुराण में अज और नंदि के राजकाल का योग ५२ वर्ष दिया है। अज के २१ तथा नंदि के ३० वर्ष पृथक्

पृथक् भी दिए हैं। मत्स्यपुराण की कुछ प्रतियो में लिखा है कि इन ५२ वर्षों के पीछे पाँच प्रानंदों का राज्य रहा। नंदि के पीछे पिछले (नवीन) नंदों को मिलाकर अवश्य ही पाँच नद हुए।

नदि ने अपने पिता उदयिन् की राजधानी पाटलिपुत्र को छोड़कर लिच्छिवियों के गणराज्य की राजधानी वैशाली में गगा पार दूसरी राजधानी बनाई। बौद्ध तारानाथ ने नंदि को वैशाली में राज्य करता हुआ लिखा है। सुत्तनिपात में, नंदि के समकाल में, वैशाली को मगध की राजधानो लिखा है। उसी के काल में वैशाली में बौद्धों का दूसरा सघ हुआ था। बौद्ध कथानक यह है कि पाणिनि उसी की राजसभा में आया। मगध का राज्य बढ़ाकर उसने वर्धन उपाधि को चरितार्थ किया और कदाचित् इसी लिये राजधानी पाटलिपुत्र से आगे को हटाई। उत्कल का विजय भी उसी ने किया।

वाद-विवाद

जायसवाल महाशय का लेख छप जाने के पीछे इन मूर्तियों के विषय में बहुत कुछ वाद-विवाद हुआ है। इस विवाद के मुख्य प्रश्न ये हैं—

मूर्तियाँ यक्षो की हैं कि राजाओ की ?

लेखो का पाठ जो जायसवाल महाशय ने पढा है वही ठीक है कि और कुछ ?

लेख मूर्तियो के समकालिक हैं या पीछे के ? यदि समकालिक हैं तो अपेक्षाकृत नवीन लिपि पुरानी मूर्तियो पर कैसे ? अथवा नए

अक्षरोंवाली मूर्तियाँ पुरानी क्योंकर हो सकती हैं? यदि पीछे के अक्षर हैं तो मूर्तियों का वस्तुतत्त्व वे कैसे दिखा सकते हैं?

मगध और अवंती के इतिहास के अज और उदयिन् तथा दो नंदिवर्धनों की एकता जो जायसवाल महाशय ने स्थापित की है वह कहाँ तक ठीक है?

इस विवाद ने कभी कभी सनातन धर्म और सुधारकों के विवाद का रूप धारण कर लिया है। जैसे पाणिनीय व्याकरण-वाले यह दुहाई दिया करते हैं कि "सामर्थ्ययोगान्न हि किंचिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्" और "अपाणिनीयं तु भवति, यथान्यासमेवास्तु" कहकर नई कल्पनाओं का मुख वंद करते हैं, वैसे "अकनिंगहामीय" या "अवूलरीय" होने के भय से यक्षमूर्ति, मौर्य पालिश के ईरानी जन्म, और पिछले अक्षरों का सिद्धांत सहसा छोड़ा नहीं जाता। पुरातत्त्व की खोज में भी धर्म की तरह कुछ सिद्धांत जम से जाते हैं, उन्हें उखाड़ने में देर लगती है। पहले मानते थे कि संस्कृत कोई भाषा ही न थी, ब्राह्मणों की कल्पना है। यह माना जाता था कि क्या नाटक और क्या शिल्प हिंदुस्तान में यूनानियों के आने के पीछे चले, नाट्यशास्त्र और गांधार शिल्प में ग्रीस की सभ्यता का अनुकरण ही है। भागवतसंप्रदाय और भक्तिमार्ग में भी कृस्तान धर्म के आदिकाल की छाया दिखाई पड़ती थी। ये सिद्धांत अब हट गए हैं। रतन ताता के दान से पटने की खुदाई होने पर ईरानी शिल्प और मय असुर के शिल्प की कल्पना हुई है। पटने का राजप्रासाद ईरानी राजा दारा के

महल और स्तंभो का अनुकरण माना गया। अशोककालीन स्तंभो तथा मूर्तियों पर की पालिश ईरानी पालिश ठहराई गई। पिपरावा स्तूप के पात्र पर वैसी पालिश उपलब्ध होने पर भी यह कहा गया कि स्तूप पुराना है, पात्र पीछे से उसमे रखा गया है। सुधारको के कहने से सनातन धर्म छोड़ने पर लोग सहसा तैयार नहीं हो जाते। पहले हिंदुस्तान भर में एक साम्राज्य रहा हो यह कोई न मानता था। शहवाजगढ़ी से मैसूर तक अशोक के लेख मिलने से अब वह संस्कार हटा है। हिंदुस्तान में कभी प्रजातत्र या गणराज्य की कल्पना हुई हो यह कौन मानता था? गणो के सिक्को, प्रजा की समितियों, राजा की स्वेच्छा पर प्रजा के दबाव आदि बातो का अब पता चल रहा है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के मिलने के पहले हिंदू दडनीति के विकास की कथा भी नहीं थी। पीटर्सन को तो वात्स्यायन कामसूत्र में भी ग्रीस के प्रभाव का गध आया था। पहले मौर्यकाल से पहले राजवशों की बात कोई न मानता था। पुराणों को इतिहास के बारे में देखने योग्य नहीं माना जाता था किंतु पार्जिटर ने पुराणों की वंशावलियो का समीकरण तथा विश्लेषण करके पूरा इतिहास बना दिया है और अब वही वेदो के ऋषियों तथा क्षत्रियवशों का इतिहास बना रहा है। जहाँ श्रद्धा समूल या निर्मूल जम जाती है वहाँ से उसे उखाडने में क्लेश ही होता है। इस विवाद ने कुछ राजनैतिक रूप भी धारण किया है। बिहार के नए प्रात का इन मूर्तियो पर दावा होकर कलकत्ते के इंडियन म्यूजियम से

कहीं ये हटाई न जायँ इसकी चिंता "पुराने" खोजियो को हुई है। अस्तु।

विहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल के जून सन् १९१९ के अक में

बाबू राखालदास बनर्जी

ने इन मूर्तियो पर एक लेख लिखा है। उन्होंने अचो और वटनंदि पाठ को ठीक माना है। वे कहते हैं कि ये मूर्तियाँ अज तथा वर्तनंदि नामक शैशुनाक राजाओं की ही हैं। अव तक भारतीय शिल्प के जितने नमूने मिले हैं उन सब मे ये प्रतिमाएँ प्राचीनतम युग की हैं। अभी तक लोग कुशन सम्राट् कनिष्क प्रथम की प्रतिमा को ही सब से प्राचीन मानते थे। डाक्टर व्लाख ने भी इनके ऊपर के लेखों को पढ़ने का यत्न किया तथा नंदि पद पढ़ भी लिया था, किंतु उनकी खोज अधूरी ही रही। सन् १९१३ में डाक्टर स्पूनर ने यह माना था कि पालिश तो कहती है कि ये मूर्तियाँ मौर्य शिल्प की हैं किंतु लेख उनसे पीछे के हैं। बनर्जी महाशय भी यही मानते हैं कि लेख पीछे के हैं, ईसवी पूर्व या ईसवी पहली शताब्दी के हैं। बनर्जी महाशय के मत मे 'सपखते' में दूसरा अक्षर प नहीं व है। इससे अर्थ मे कोई अंतर नहीं पडता। अज की मूर्ति पर के लेख मे वे भ, धी और शे के पाठ को ठीक नहीं मानते। भ तो किसी प्रकार भ हो भी सकता है किंतु 'धीशे' 'वीके' है। इस लेख मे प्रत्येक अक्षर की बनावट का विचार करके सिद्ध किया है कि अक्षर ईसवी पूर्व की पहली शताब्दी से पहले के नहीं हो सकते।

उन्होंने उस समय के भिन्न भिन्न शिलालेखों के वर्णों से इनकी समानता दिखाई है। अंत में यह माना है कि शैशुनाकों के देवकुल में इन्हीं राजाओं की ये प्रतिमाएँ अवश्य रही होंगी। पहले उन पर लेख नहीं थे, जब लोग यह भूलने लगे कि ये प्रतिमाएँ किसकी हैं तब किसी ने पहिचान के लिये ये नाम ऐसी जगह पर खोद लिए जहाँ सबको दिखाई न दें।

जायसवाल महाशय ने इसके उत्तर में प को तो ब मान लिया है किंतु यह बताया है कि **धोशे** को **वोके** पढ़ने से **छोनीवीके** का अर्थ कुछ भी नहीं होता। अक्षरों की बनावट में तीन रेखाओं के वर्ण पहले होते हैं, उनके विकास से दो रेखाओं के अक्षर बनते हैं। इस पर बनर्जी महाशय ने विचार नहीं किया। उन्होंने कुशान और पश्चिमी लेखों के अक्षरों से इनकी तुलना करके इन्हें अर्वाचीन सिद्ध किया है किंतु उनमें अशोकलिपि की अपेक्षा अधिक पुराने और भिन्न शैली के वर्णसंप्रदाय के चले आने की संभावना है। लिपि को पिछली मानकर ही बनर्जी महाशय ने उसकी पुष्टि के प्रमाण बनाने के लिये यह लेख लिखा है, तो भी मूर्तियों की प्राचीनता तथा राजाओं के नामों की ऐतिहासिकता को उन्होंने मान लिया है।

परखम की मूर्ति भी शैशुनाक प्रतिमा है

सितंबर सन् १९१९ के बिहार उडीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल में बाबू वृंदावनचंद्र भट्टाचार्य ने यह दिखाया कि बनर्जी महाशय का यह कहना ठीक नहीं है कि कुशान सम्राट् कनिष्क

प्रथम की प्रतिमा ही अब तक प्राचीनतम प्रतिमा मानी जाती थी तथा पुरामौर्यकाल की और कोई प्रतिमा अब तक न मिलने से इन दोनो मूर्तियो की उससे तुलना करके पुरामौर्य शिल्प के विषय मे कुछ कहा नहीं जा सकता। परखम गाँव की मूर्ति इन दोनो मूर्तियो से बहुत समानता दिखाती है। उसका वर्णन जेनरल कनिंगहाम की अर्कियालजिकल सर्वे आफ इंडिया की रिपोर्ट की २०वीं जिल्द मे है। वह सात फुट ऊँची है। शैशुनाक मूर्तियाँ ६ फुट से ऊपर हैं। वह चौड़ाई में दो फुट है। एक ही पत्थर को चारो ओर कोरकर बनाई हुई है। बायाँ घुटना कुछ मुड़ा हुआ है। दोनों बाँहें कंधो पर से टूट गई हैं इससे यह पता नहीं चलता कि मूर्ति किस मुद्रा में थी। चेहरा तेल तथा सिंदूर मलते मलते अस्पष्ट हो गया है, छाती पर मैल जम गया है। इसके भी दाहिने कंधे पर चँवरी मानी गई है। कानो मे कुंडल हैं। गले में एक छोटा हार या बूटेकारी का पट्टा है जिसके चार फुँदे पीठ पर लटकते हैं। इसके भी घटोदर तथा भद्दे पैर हैं। वक्ष पर दो चौड़े पट्टे हैं. एक कमर पर बँधा है, एक उसके नीचे जघन पर है; मानो वे भारी पेट को सम्हालने को बँधे हैं। कमरबंद को गाँठें भी आगे बँधी हुई हैं, पैरो तक एक ही लंबा ढीला वस्त्र है, उस पर सलवटे और लहरे वैसी ही हैं। यह भी मिर्जापुरी भूरे दरदरे पत्थर की है और उत्कृष्ट पालिश के चिह्न अभी तक बाकी हैं। परखम मे यह देवता कहलाती और वर्षों से पुजती थी। वहाँ पर जो और ध्वसावशेष हैं वे लाल पत्थर के तथा अर्वाचीन हैं।

इस समानता से परखम-मूर्ति को भी उतनी ही प्राचीनता देख कर जायसवाल महाशय का ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ। जेनरल कनिंगहाम ने उसे भी यक्ष कहा था। आजकल यह मथुरा म्यूज़ियम में है। जायसवाल महाशय ने उसे स्वयं देखा और सरकार की कृपा से छापे प्राप्त करके उसकी चरणचौकी पर के लेख को यों पढ़ा—

(दाहिनी ओर) निभद प्रशेनि अज (ा) सत्रु राजो सि(ि) र

(सामने) क (=४) थ (=२०) ड (=१०) ह्ल (=८)

(बाँई ओर) कुणिक शेवासिनागो मागधानं राजा

इसका अर्थ है—परलोकवासी, श्रेणिवंशी अजातशत्रु श्री कुणिक शेवासिनाग, मागधों का राजा, (राज्यकाल ?) (२० + १० + ४ =) ३४ (वर्ष) ८ (मास)।

मगध के राजा अजातशत्रु की मृत्यु ईसवी पूर्व सन् ५१८ में हुई। जैन लेखानुसार उसका नाम कुणिक भी था। यह बुद्ध का समकालिक मगध का शैशुनाकवंशी राजा था। शैशुनाक का प्राकृत रूप शेवासिनाग है। उसके पिता बिंबिसार का नाम श्रेणि भी था। अतएव यह सिद्ध हुआ कि यह भी शैशुनाक प्रतिमा है, यक्ष की मूर्ति नहीं। कुणिक को कणिक पढकर इसे कनिष्क की मूर्ति मानते थे। कनिष्क को कनिक भी कहते थे, जैसे कवि मातृचेट ने कनिष्क के नाम जो पत्र लिखा है उसका नाम कनिकलेख दिया है। संभव है कि यह देवकुल-प्रतिमा न हो, मथुरा प्रांत के विजय या किसी बडे धर्मकार्य की स्मृति में स्थापन

की गई हो, क्योंकि देवकुल-प्रतिमा होती तो अजातशत्रु की राजधानी राजगृह के पास पाई जाती। इसके अक्षर स्पष्ट हैं, यहाँ संदेह का स्थान नहीं, क्योंकि यह प्रामाणिक लेख मूर्ति के सामने है, पीठ पर नहीं।

यक्ष-पूजा

इंडियन एंटिक्वेरी की मार्च सन् १९१९ की संख्या में, जो सितंबर में प्रकट हुई है, इन मूर्तियों के विषय में दो लेख छपे हैं। एक बाबू रामप्रसाद चंदा का लिखा हुआ है। चंदा महाशय ने यह सिद्ध करने का उद्योग किया है कि लेख मूर्तियों के समकालिक नहीं हैं, सलवटों के बनाए जाने के पीछे किसी अन्य मनुष्य ने कालांतर में खोदे हैं। वे यह नहीं मानते कि इन लेखों के अक्षर किसी काल की लिपि से नहीं मिलते। 'वे कुशान समय की ब्राह्मी 'लिपि से मिलते हैं। जब तक किसी अज्ञात वस्तु की किसी ज्ञात प्राचीन वस्तु से सदृशता सिद्ध न हो जाय तब तक वह प्राचीन नहीं मानी जा सकती। दो पदार्थों में समानता होने पर उन दो में से जिसकी गठन कम विकसित है वह अधिक विकसित गठनवाले पदार्थ से प्राचीन माना जा सकता है, या दोनों ही किसी एक कल्पित प्राचीन पदार्थ से उद्भूत माने जा सकते हैं. बिना साधारण पूर्वरूप के ज्ञात हुए केवल कल्पना से प्राचीन रूप नहीं माने जा सकते। ब्राह्मी लिपि के उद्भव के विषय में सर्वमान्य मत बूलर का है कि उत्तरी शैमेटिक वर्णमाला के सब से प्राचीन रूप व्यापारियों द्वारा हिंदुस्तान में लगभग ई० पू० ८०० में आए उनसे ब्राह्मी

अक्षर बने। दूसरे मत ये भी है कि ब्राह्मी लिपि और प्राचीन शैमेटिक अक्षर एक ही मूल से निकले, या हिंदुओ ने अपनी लिपि स्वतंत्र ही निकाली। मौर्यकाल की ब्राह्मी लिपि के विवेचन में शैमेटिक मूल से समानता का विचार न भी करे तो भी बिना किसी स्वतंत्र प्रमाण के इन लेखो के अक्षरो को ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी के दो सौ वर्ष पहले के पूर्वज नहीं मान सकते।' पहली मूर्ति पर के लेख के पहले दो अक्षरो को जेनरल कनिंगहाम की तरह **यखे** न पढ़कर जायसवाल महाशय के अनुसार इन्होंने **भग** या **भगे** मान लिया है। ये दोनो अक्षर उन्हे सलवटो की रेखाओ को छीलकर बनाए जान पडे है। आगे के लेख को चंदा महाशय ने अच (चु) छनीविक पढकर पूरे लेख **भगे अचुछनीविक** का अर्थ किया है भगवान् अचन्छ (= अक्षय !) नीवि (कोश, मूलधन) वाले यक्ष अर्थात् वैश्रवण कुबेर। दूसरी मूर्ति पर के लेख को **यख सर्वतनंदि** पढ़कर निश्चय किया है कि लेख खोदे जाने के समय, ईसवी सन् की दूसरी सदी मे, इन्हें यक्षो की प्रतिमा ही माना जाता था, एक मूर्ति यक्षो के राजराज वैश्रवण (अक्षयनीविक) की है, दूसरी चँवरीवाली उसके पार्षद सर्वतनदि की। शिल्प की सजीवता तथा प्राचीनता की बात को वे हँसी मे उडाते हैं। वे कहते हैं कि अशोक-स्तभों तथा उनकी खुदाई की सुंदरता के सामने ये मूर्तियाँ भद्दी हैं। सारनाथ-स्तभ के सिंहो का चित्रकौशल इनसे कहीं उत्कृष्ट है। यदि सजीवता तथा शिल्प-सौष्ठव प्राचीनता का चिह्न हों तो ये मूर्तियाँ मौर्यकाल के पीछे

की हैं और भरहुत के कठहरे के यक्षो की मूर्तियो के पास से उन्हीं के भाई-बंधु इन दोनो यक्षों को हटाना अनुचित है।

कनिंगहाम साहब के सिर मे यक्षवाद समाया हुआ था। उस समय तक यह नहीं जाना गया था कि देवकुलो मे राजाओं की मूर्तियाँ रखी जाती थीं। ये मूर्तियाँ एक ही मंदिर मे तीन या चार थीं। यदि यक्षों की हो तो यक्षो की पंचायत का देवालय होने का प्रमाण क्या है? परखम की मूर्ति इनकी समानता से यक्ष की मानी गई और उसके कंधे पर चँवर न होने पर भी नंदि की मूर्ति के सादृश्य से वहाँ चँवर की कल्पना की गई। अब उस मूर्ति का राजमूर्ति होना लेख से सिद्ध हो गया। तब उसके प्रमाण पर ये यक्षमूर्तियाँ कैसे कही जायँ? मालवा की मणिभद्र प्रतिमा को भी यक्ष कहा जाता है किंतु उसके नाम के पहले भगवान् पद होने से वह बोधिसत्त्व मणिभद्र की मूर्ति है। उस पर के लेख मे जितना बहुमान दिखाया गया है वह केवल यक्ष का नहीं हो सकता। और वह मूर्ति बहुत पीछे की भी है। कनिंगहाम साहब ने चाहे वैसा पढ़ा हो किंतु इन मूर्तियो पर 'यखे' पद नहीं है। चंदा महाशय उसे 'भगव' मानते है पर फिर कहते हैं कि यक्षमूर्ति है! मजूमदार महाशय कहते हैं कि 'यखे' था, किसी ने नीचे का भाग छीलकर 'भगे' कर दिया है। भरहुत-गैलरी मे यक्षो की कई मूर्तियाँ हैं उन पर 'कुपिरो यखो', 'सुप्रभो यखो' आदि नाम लिखे हैं। उनके सिर पर दो शृंगोंवाली पगड़ी है और धोती की मोरी पीछे की ओर खोसी हुई है। उनकी तरह ये मूर्तियाँ कैसे मानी जायँ?

शिल्प के विद्वान् बाबू अर्धेदुकुमार गांगुली इस यक्षोपासना के दुराग्रह में ऐसे आ गए कि वे मूर्तियो को पुरामौर्यकाल की मानने को तैयार हैं, किंतु कहते हैं कि मूर्तियाँ यक्षो की हैं, राजाओं की नहीं, यहाँ तक कि जायसवाल महाशय का लेखो का पाठ ठीक हो तो भी वे यही मानते हैं कि जब यक्षपूजा उठ गई तब लोगों ने वास्तव बात को भूलकर उन पर राजाओ के नाम खोद दिए। (माडर्न रिव्यू, अक्टोबर १९१९) इस यक्षमत के समर्थन के लिये आर० सी० मजूमदार महाशय ने इडियन एंटिक्वेरी की उसी सख्या में एक बडा अद्भुत लेख लिखा है।

मूर्तियों पर संवत्?

वे लेखों के अक्षरो को कुशन-काल के पूर्व का नहीं मानते। कहते हैं कि जायसवाल महाशय के सिद्धांत का मूलस्तभ यही है कि ये अक्षर किसी भी समय के वर्णो से नहीं मिलते। कुशन-अक्षरो से उनकी स्पष्ट समानता से उन्हे न पढ़कर जायसवाल महाशय ने पुराने रूप, तीन रेखाओ के अक्षर आदि की नई कल्पना पहले गढ़ कर उन्हें अशोक-वर्णों का पूर्वज माना है। इन पूर्वज वर्णो का कोई पता नहीं, कल्पना से उन्हे खड़ा कर किसी भी आकृति का जो चाहे सो पूर्वज मान सकते हैं। कुशन-काल की वर्णमाला उत्तरी भारत की पश्चिमी लिपि है, किंतु पूर्वी लिपि उनसे कुछ भिन्न थी, यह समुद्रगुप्त के प्रयाग-लेख से अनुमान कर सकते हैं। यदि पूर्वी भाग में मिली हुई इन मूर्तियो के लेखों के अक्षर कुशन लिपि से पूरी तरह नहीं मिलते तो उसकी पूर्वी अवातर लिपि के

कुछ लक्षण उनमें मिलते हैं। प्रथम मूर्ति के पहले दो अक्षर औरों से छोटे हैं, कनिंगहाम की प्रतिलिपि में वे यखे हैं तो उस समय अवश्य यखे होगा, पीछे कुछ भाग छील दिया गया है, बाकी अंश वह है जिसे जायसवाल महाशय ने भगे पढ़ा है। अक्षरों को कुशन-समय के लेखो से मिलाकर मजूमदार महाशय ने कहा है कि अंत के दो अक्षर अक्षर नहीं हैं, संख्यावाचक चिह्न हैं। पहले संख्या अक्षरों से बताई जाती थी (देखो, ऊपर परखम-मूर्ति का लेख) और वे अक्षर संयुक्त वर्णों से मिलते-जुलते होते थे। प्रथम मूर्ति का लेख मजूमदार महाशय के मत में यह है—गते (यखे ?) लेच्छाई (च्छवि) स (=४०) के (=४) अर्थात् लिच्छिवि संवत् ४४ (मे यह मूर्ति बनाई गई)। लिच्छिवि संवत् प्रसिद्ध है, जैन-कल्पसूत्र मे लिच्छिवि का पाठांतर लेच्छाई मिलता है, वही लेच्छवि हुआ। लिच्छवि संवत् का आरंभ ईसवी सन् ११०-१११ में हुआ, अतएव इस मूर्ति का समय ईसवी सन् १५४-१५५ हुआ। दूसरी मूर्ति के लेख के पहले दो अक्षर तो यखे ही हैं। अंत का अक्षर द नहीं है, वह क्षत्रप सिक्कोंवाला ७० का चिह्न है। यदि वह उससे नहीं मिलता है तो उसी चिह्न का पूर्वी रूपांतर है, चाहे नीचे की नोक अधिक झुकी हुई हो। उसका अधिक झुकाव खोदनेवाले की बुद्धिमानी है जिसने इस अक्षर को औरों से विशेष महत्त्व देने के लिये गहरा खोदा। अंकों के स्थान मे जो वर्ण-संकेत आते हैं उनमे साधारण समानता ही होती है अतएव अधिक मिलाने-जुलाने की आवश्यकता नहीं।

ये लेख हो गया—**यखे सं वजिनां ७०** अर्थात् (यह) यक्ष वजियों के सवत् ७० में (बनाया गया)। वजि वृज्जि का प्राकृत रूप है। वृज्जि गण था, लिच्छिवि भी इसी जाति-गण के अंतर्गत थे। एक ही सवत् समष्टिरूप जातिगण का भी कहलाता होगा जो पीछे जाकर एक ही प्रधान जाति (लिच्छिवि) के नाम से कहलाया गया। इस गण की और जातियाँ तो अप्रसिद्ध रह गईं किंतु लिच्छिवियो ने नेपाल मे राज्य स्थापित किया और वे ऐसे बढ़े कि प्रसिद्ध गुप्त सम्राट् भी लिच्छिवि-दौहित्र कहलाने का गर्व करने लगे। वज्जि संवत् ७० ईसवी सन् १८०–१८१ हुआ। ये मूर्तियाँ यक्षो की हैं। समय निर्णीत है जिससे शिल्प-कल्पना की जगह ही नही रह जाती। लिच्छिवियो का पाटलिपुत्र पर अधिकार था। नेपाल के वाहर लिच्छिवि सवत् के पुराने वर्षों के ये ही लेख मिले हैं।

यह लीजिए। कनिंगहाम महाशय का यक्ष पहली मूर्ति पर से हटता न हटता दूसरी पर तो निकल पडा! मूर्तियो के शिल्पकाल-निर्णय, अक्षरो के मूल या अर्वाचीन होने आदि के विचार की जड ही कट गई! मूर्तियाँ स्वय पुकार कर अपना समय कह रही हैं। यक्ष अपनी मूर्ति खडी किए जाने का समय साथ ही लिखवाए फिरते हैं!! अत के अक्षरो को सवत् के वर्षों का चिह्न मानना वहुत ही हास्यास्पद हुआ है। रायवहादुर पडित गौरीशकर हीराचंद ओझा, जिनके समान प्राचीन लिपियो के पढने मे कोई कुशल नहीं है और जिन्हे यह लेख दिखा लिया गया है,

इस चेष्टा को दु:साहस कहते हैं। ये अक्षर किसी दशा में अंक-चिह्न नहीं हो सकते।

आगे चलकर मजूमदार महाशय कहते हैं कि यदि इन लेखों में **अचो** और **वटनंदि** निर्विवाद पढ़े भी जायँ तो दूसरे अनिश्चित अक्षरों के साथ से उन्हें पृथक् पद या नाम नहीं मान सकते। पुराणों मे शिशुनाक वंशी राजाओ मे अज का नाम ही नहीं है, उदयिन् को अजय कहा है अज नहीं, नंदिवर्धन को आजेय (अजय का पुत्र) कहा है, अज का पुत्र नहीं। पुराणो में कहीं पर वटनदि नामक कोई शैशुनाक राजा ही नहीं मिलता। वायुपुराण मे वर्तिवर्धन, वर्धिवर्धन, कीर्तिवर्धन नाम मिलते हैं, यदि ये नंदिवर्धन के ही नामांतर हो तो दोनो मिलाकर वर्तनंदि कैसे बन गया? चद्रगुप्त द्वितीय का नाम देवगुप्त भी था, विग्रहपाल का नामांतर शूरपाल था, किंतु इससे चंद्रदेव या देवचद्र, शूरविग्रह या विग्रहशूर तो नहीं बन जाता। बनर्जी महाशय ने लेखों को कुशान-काल का माना है, मूर्तियो को पुराना। यदि कोई देवकुलिक मूर्तियों पर बनर्जी महाशय के कथनानुसार पीछे से नाम लिखता तो पीछे छिपा कर क्यों लिखता, सामने क्यो नहीं?

योरोपियन पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत।

विंसेंट स्मिथ

डाक्टर विंसेंट स्मिथ ने, जिनके अभी अभी परलोकवास से पुरातत्त्व और इतिहास की बड़ी भारी क्षति हुई है, एशियाटिक सोसाइटियों की सम्मिलित सभा मे, ता० ५ सितंबर १९१९ को

जायसवाल और बनर्जी महोदयों के मत से अपने को सहमत बतलाया था। उन्होंने यह मत प्रकाश किया कि ये मूर्तियाँ मौर्य-काल के पहले की हैं, ईसवी पूर्व ४०० से पीछे की नहीं बनीं, लेख मूर्तियों के समकालिक हैं, तथा लिपि की आधुनिकता की बात पक्की नहीं। अब तक पत्थर का शिल्प अशोक के समय से ही आरंभ हुआ ऐसा मानते रहे हैं, अब, इन मूर्तियों से यह जान कर कि अशोक से दो शताब्दी पहले भी मूर्ति कला इतनी उन्नत थी, भारतीय शिल्प का इतिहास बिलकुल बदल जाता है। मूर्तियों की रचना कहती है कि बहुत पहले से इस शिल्प की उन्नति हो रही थी।

डाक्टर बार्नेट

ने, और लेखकों की तरह अविश्वास तथा खंडन की धुन से नहीं, किंतु शालीनता के साथ, 'क्षमतु साधव' कह कर जायसवाल महाशय के मत का विरोध किया है। (१) अक्षरों और सलवटों की बनावट से लेख मूर्तियों के पीछे का है, समकालीन नहीं। (२) जायसवाल महाशय का पाठ स्वीकार करने में भाषा-संबंधी कई कठिनताएँ हैं। **भगे** तथा **छोनीधीशे** में कर्त्ता का रूप ए-कारांत है, और **अचो** में ओ-कारांत। प्राकृत में दोनों होते हैं, किंतु एक ही लेख में दो वैसे और एक ऐसा क्यों? अज में तो 'ज' का 'च' हो गया, **भगे** और **धीशे** में व्यंजन का परिवर्तन क्यों न हुआ? जायसवाल महाशय ने एक उदाहरण पाली से तथा एक अशोक-लेख से अपनी पुष्टि में दिया है किंतु वे इसलिये संतोषदायक नहीं कि यह क्योंकर हो सकता है कि राजा के नाम में परिवर्तन

हो जाय तथा विशेषण शब्दो मे न हो। यह परिवर्तन पैशाची और चूलिका-पैशाची मे होता है जो कभी पटने के आसपास की भाषा न थी। यदि यह माने कि राजा का नाम अच था, उसका पुराणो में संस्कृत अज बना लिया तो शैशुनाक अज का अस्तित्व कहाँ रहा? सपखते मे सर्व का प्राकृत सप होना भी संदिग्ध है। (३) प्रथम लेख भगे अचे छनीवीके है, इसका अर्थ न जाने क्या है। अक्षर सब पिछले हैं, कुशान-समय के लेखो तथा स्टेन के उपलब्ध तुरफन के लेख-खडो से मिलते हैं। सपखते मे स है ही नहीं, य है और वह कुशान-काल का य है। सार यह है कि प्रथम लेख मे अज का नाम ही नहीं। दूसरे लेख में वटनंदि हो सकता है किंतु पुराणों मे कोई वर्तनंदि नहीं है, जायसवाल महाशय का वर्तनंदि तथा नंदिवर्धन को एक करने का यत्न निष्फल हुआ है। लेखशैली मौर्यकाल से बहुत पीछे की है।

प्रोफेसर फूशे ने शिल्पविचार से मूर्तियो को ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी की यक्षमूर्तियाँ ही माना है।

बि० ओ० रि० सो० के जर्नल की दिसंबर १९१९ की संख्या मे जायसवाल महाशय ने सब आक्षेपों के उत्तर दिए हैं—

(१) अक्षर मूर्तियो के समय के है या पीछे के खुदे हुए, इस पर कलकत्ते के विक्टोरिया मेमोरियल के प्रधान शिल्पी मार्टिन कंपनी के मिस्टर ग्रीन का मत लिया गया। मिस्टर ग्रीन का मत है कि अज की मूर्ति पर तो अक्षर पहले खोदे गए है. सलवटे पीछे बनाई गई। नंदि की मूर्ति मे अक्षर तथा सलवटें एक काल की हैं, पूर्वापर नहीं।

अक्षरों के लिये सलवट की रेखाएँ बचा कर ली गई हैं, अक्षर सलवटो के ऊपर नहीं रखे गए हैं। इस विशेषज्ञ की सम्मति बड़े महत्त्व की है। शिल्प-विचार से किसी विद्वान् ने मूर्तियो को मौर्य-काल के पीछे की नहीं कहा। अशोक और शुंग-काल की प्रतिमाओं से ये भिन्न हैं, इनकी समानकक्ष परखम-मूर्ति पुरामौर्य-काल की है, इन पर मौर्य पालिश और मौर्य शिल्प है, और अक्षर मूर्तियो के समकालीन हैं। फिर अक्षर पुराने क्यों नहीं? मि० ग्रीन ने अग्निदाह से मूर्तियो का पीला पड़ना तथा पत्थर का असली रग मिर्जापुरी पत्थर का माना है।

उसी अंक में मि० अरुण सेन का लेख है जिसमें इन मूर्तियो के पुरामौर्य शिल्प का विवेचन है। इसमें अंग-प्रत्यग की बनावट और मौर्यकाल के सिंह तथा सारनाथ के कटघरे की प्रतिमा, वेसनगर की मूर्ति, परखम की मूर्ति, ग्वालियर की मणिभद्र मूर्ति, सारनाथ के वृष तथा साँची और भरहुत के नमूनो की तुलनात्मक विवेचना से सिद्ध किया है कि पिछले शिल्प में रूढ़ि है, चित्रण का ढर्रा है, इन मूर्तियो मे केवल भाव (कहीं कहीं भोदेपन से) है, जैसे स्थूलता या बिना केश का सिर दिखाया है, नसो के मोड़ और लटो के पेच नहीं। अतएव यह पुराना सजीव शिल्प है, पिछला रूढ़ि का जमा हुआ नहीं।

(२) यह ठीक है कि कर्त्ता के रूप या तो अर्धमागधी के अनुसार सभी ए-कारांत हों या सभी मागधी के अनुसार ओ-कारांत हों, किंतु अशोक के लेखों में भी ऐसा मिश्रण पाया जाता है, जैसे

सातियापुतो केललपुतो तम्बपंनी अतियोये, (कालसी का लेख), राजुको, प्रदेसिके (शहबाजगढ़ी), ध्रमसंश्तवे ध्रमसंविभागो (वहीं), वहीं पर कहीं देवान प्रिये, कहीं देवानं प्रियो, गिरनार के लेख में देवानां प्रिये और आगे चलकर देवानां पियो, और शहबाजगढ़ी के लेख मे अतियोको तुरमये नाम अलिकसुदरो दिया है। इस प्रत्यक्ष व्यवहार के प्रमाण के आगे व्याकरण-सम्मत शुद्ध पाली प्रयोगों का न मिलना असभव नहीं है।

ज का च हो जाना पैशाची का लक्षण है जो सीमाप्रांत मे व्यवहृत होती थी, किंतु यह कोई बात नहीं कि वह और कहीं न मिलता हो। जब प्राकृत भाषाएँ जीवित थीं तब बोलनेवाले या लिखने खोदनेवाले की मौज से उच्छृंखलता होती थी, व्याकरणों को लेकर कोई न बैठता था। प्राकृत के प्रयोग के रूपो में विकल्प बहुत हैं, देश-विशेष का नियम भी इतना जकडा हुआ न था। एक ही बृहस्पतिमित्र का नाम सिक्को पर बहसति मित्र और लेख में बृहास्वातिमित्र मिला है। प्रसिद्ध ग्रीक राजा गोंडोफोरस के सिक्को पर गुदफर, गदफर, वा गुदफर्न तीन रूप मिलते हैं। व्रज के स्थान में व्रच्च और प्राजन के लिए प्राचन ये जो दो उदाहरण दिए गए थे वे पर्याप्त न माने जायँ तो प्राकृत-मजरी नामक प्राकृत व्याकरण का सूत्र है 'चो व्रजनृत्यो'। ये परिवर्तन भी सब जगह नहीं होते, एक पद में भी किसी वर्ण को होते हैं, किसी को नहीं। भरहुत कटहरे में कुबेर का कुपिर, विधुर का वितुर, मुगपंखिय का मुगपकिय, ऐरावत का एरा-

पतो, अमरावती के लेख मे भगवत का भगपत, जातक में मघा-देव का मखादेव, मिलता है। मूलर के पाली व्याकरण मे लाव = लाप, पजापती = प्रजावती, पलाप = पलाव, छाप = साव, सपदान = सवदान, सुपाण = सुवान, (श्वान), धोपन = धोवन, इतने उदाहरण दिए हैं। ये अज के अचो और सर्व के सप हो जाने के प्रमाण हो चुके।

(३) अच यदि राजा का नाम है, चाहे उसे अचो, अचे या अच पढ़ें, वह पुराणो का अज ही है। नाम अच था, उसका सस्कृत रूप अज हुआ तो इसमे क्या हानि है ? पुराणो के और और नाम सिक्को तथा शिलालेखो से सत्य प्रमाणित हो गए हैं, तब एक अज नाम को ही केवल कथामात्र क्यो मानें ?

पुराणों मे वर्तनदि नाम का कोई राजा नहीं, इस प्रश्न को फिर से विचार लेना चाहिए। नदिवर्धन नाम तो पुराणों मे है ही। बुद्ध और महावीर के समकालिक दो राजवश—उज्जयिनी (अवती) और मगध के—थे। बौद्ध और जैन अपनी धार्मिक इतिहास की बातो का समय इन्हीं दो वशो के राजाओ के राज्यवर्षो में देते हैं। अवती की राजसूची मे प्रद्योत, बुद्ध और बिबिसार का सम-कालीन था। उससे लेकर अज या अजक और नदिवर्धन तक १३८ या १२८ वर्ष होते हैं। इधर मगध में बिबिसार से लेकर उदयिन् तक १११ वर्ष और उसके उत्तराधिकारी नदिवर्धन आजेय तक १५१ वर्ष होते हैं। ये दोनो नदिवर्धन एक काल के हुए, अर्थात् मगध के शिशुनाक नदिवर्धन आजेय

और अवंती के अज के पुत्र नंदिवर्धन के काल में अवंती के वंश का अंत हुआ। अवंती के नंदिवर्धन को मत्स्यपुराण की एक पुरानी पोथी में शिशुनाक कहा है*। अतएव अवंती का अजक शिशुनाक का पुत्र शिशुनाक नंदिवर्धन और मगध का प्रसिद्ध शिशुनाक आजेय नंदिवर्धन समकालिक ही नहीं, एक ही व्यक्ति हुए।

जैनों के आख्यानों से भी यही बात सिद्ध होती है, यथा—

पुराणों के अनुसार		जैन आख्यानों के मत से
प्रद्योत		
पालक २४ वर्ष	७४ वर्ष	पालक ६० वर्ष
विशाखयूप ५० वर्ष		
अज		मगध के नंद
नंदिवर्धन		

जैन आख्यानों के अनुसार पालक के पीछे ६० वर्ष बीतने पर मगध के नंदों का अवंती में राज्य हुआ। पुराणों में पालक को प्रद्योत का पुत्र कहा है और वहाँ पालक और अज के बीच में विशाखयूप नामक राजा देकर पालक और विशाखयूप के ७४ वर्ष गिने हैं। पुराणों में मगध वंशावली में प्रद्योतवंश को मिला सा दिया है, अर्थात् शिशुनाकों और प्रद्योतों को साथ ही साथ लिया

---

* एकविंशत् समा राज्यमजकस्य (या सूर्यकस्तु) भविष्यति ।
शिशुनाकः नृपस्त्रिंशत् तत्सुतो नंदिवर्धन. ॥

है। वायुपुराण की एक पुरानी अतिप्रामाणिक पोथी में अवंती की वशावली अजक पर समाप्त कर दी है और आगे कहा है—

हत्वा तेषा यशः कृत्स्न शिशुनाको भविष्यति।

अवती की वंशावली का अत कई पोथियों में अजक शिशुनाक पर और कई पोथियो में उसके पुत्र नदिवर्धन शिशुनाक पर किया है। कई पाठातरो में अवंती के राजा अजक के पुत्र को वर्तिवर्धन कहा है, वर्धि या कीर्ति पाठदोष है। अतएव मगध तथा अवती की सूचियो में वर्तिवर्धन और नदिवर्धन शिशुनाक एक ही नाम हैं। इसे नदिवर्धन, नंदवर्धन, और कोरा नद भी कहा है। वर्धन तो केवल उपाधि है। नाम नंदि या वर्ति हुआ। यदि ये दोनो नाम साथ ही मिल जायँ तो असभव क्यो है? पुराणों मे सिमुक नाम मिलता है, साथ में सातवाहन पद नहीं। उस राजा की मूर्ति पर 'सिमुक सातवाहनो' मिलता है, तो क्या यह मानें कि यह राजा पौराणिक आध्र राजाओ की वशावली का प्रथम राजा नहीं है? पुराणों में अशोक या अशोकवर्धन मिलता है। सिंहल के इतिहासों में प्रियदर्शन नाम दिया है। लेखो में कहीं अशोक है, कहीं प्रियदर्शी। अब यदि कहीं 'अशोक प्रियदर्शी' मिल जाय तो क्या यह कहे कि यह कोई भिन्न राजा है?

अवती की सूची में अज या अजक का नाम उपलब्ध होना और उनमे से एक का शिशुनाक लिखा मिलना हमारे साध्य को सिद्ध करने के लिये बहुत है। इधर सब पुराणों में मगध की सूची में, अर्थात् शिशुनाकों की सूची में, नदिवर्धन उदयिन् के पीछे है।

केवल भागवत में उदयिन् को अजय और नंदिवर्धन को आजेय कहा है। आजेय अपत्यवाचक तद्धित रूप है, वह अज से बनता है, अतएव भागवत में अजय अशुद्ध पाठ है, अज या अजक चाहिए। इंडियन एंटिक्वेरी मे जिस लेखक ने अजय और अजेय का अर्थ 'न जीतने योग्य' समझ कर उससे तद्धित आजेय बनाया है, क्या वह यह नहीं जानता कि तद्धित प्रत्यय नामों में लगते हैं, विशेषणों में नहीं ? शिशुनाक सूची में आजेय और अवंती की वंशावली मे अज या अजक मिलने से उदयिन् का दूसरा नाम अज या अजक सिद्ध होता है, अजय नहीं।

'छनीवोके' पाठ का कोई अर्थ नहीं। 'अचछ' का अर्थ अन्वय करना हास्यास्पद है। छ के साथ ओ की मात्रा स्पष्ट है। 'खते' की जगह खतो पढ़े तो भी अर्थ मे भेद नहीं होता। 'सप' को य मानना या यखत पढ़ना भी अनर्थक है।

अक्षरो के नए पुराने होने के विषय मे बूलर का सिद्धांत प्रामाणिक नहीं। बूलर ने लिखा है कि भट्टिप्रोलु का च और स ब्राह्मी के द्रविड़ उपविभाग का है, वह अशोक के लेख तथा एरण के सिक्के से पुराना है। वही च और वही स हमारे इन लेखों मे है। बूलर कहता है कि ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी मे द्राविडी लिपि ब्राह्मी से पृथक् हो गई। ये मूर्तियाँ पटने मे मिली हैं, द्राविड़ देश में नहीं। उन पर उन अक्षरो का होना क्या यह सिद्ध नहीं करता कि ये लेख उस समय के हैं जिस समय ब्राह्मी और द्राविड़ी पृथक् न हुई थीं ? हैदराबाद मे कुछ समाधियों में मट्टी

के बरतन मिले हैं। उन पर कई अक्षर हैं जिनमें से कुछ पुराने ब्राह्मी अक्षर माने गए हैं। ये समाधियाँ बहुत पुरानी हैं, उनके शिला के छादन हाथ लगाते झरते हैं और बरतनों को अँगुली से छेद सकते हैं। उनके अक्षरों में हमारे ष और भ की आकृतियाँ मिलती है। समाधियो की प्राचीनता में किसी को सदेह नही। चाहे हमारे भ को शेमेटिक ब से मिलाइए (जैसे कि बूलर ने ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति शेमेटिक से मानी है) चाहे समाधिवाले से वह अशोक काल से बहुत पुराना है।

यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है कि अशोक के समय के पहले अशोकलिपि से भिन्न लिपियाँ प्रचलित थी। ईरानी सिग्लोई नामक सिक्के पर्शिया के अखमानी वश के हैं। ईरानी राज्य को सिक-दर ने ई० पू० ३३१ मे नष्ट किया और हिदुस्तान के सीमाप्रात पर अखमानियो का राज्य दारा दूसरे के समय में, ई० पू० ४०० के लगभग, छूट गया। ये सिक्के उस समय के हैं। यदि बूलर के नए पुराने अक्षरो के सिद्धात को मानें तो ये सिक्के अशोक से कई शताब्दी पीछे के होने चाहिएँ, और ये हैं अशोक से कम से कम सौ वर्ष पहले के। बूलर को बरबस मानना पड़ा है कि अख-मानी समय मे मौर्य-लिपि के अधिक प्रौढ़ रूप प्रचलित थे। अशोक के लेखो मे भी कई अक्षर ऐसे मिल जाते हैं जो बूलर के मत से (कि ब्राह्मी लिपि ईसवी पूर्व ८०० से ५०० के बीच की किसी प्रचलित और विज्ञात शेमेटिक लिपि से निकली) कुशान, मथुरा, आध्र या आभीर-काल के, अर्थात् कई शताब्दी पीछे के,

होने चाहिएँ। इतनी विभिन्न आकृतियों के मिलने से बूलर ने माना है कि अशोक के समय में कई वर्णमालाएँ काम में आती थीं, कुछ अधिक प्राचीन अर्थात् भद्दी और कुछ अधिक प्रौढ़। धौली के षष्ठ अभिलेख में 'सेतो' ये दो अक्षर जो श्वेत हस्ति की मूर्ति के नीचे खुदे हुए हैं गुप्त या कुशानकाल के हैं। वे किसी ने पीछे से न खोदे हों तो यही निश्चय है कि खोदने और लिखनेवाले जमे हुए तथा घसीट दोनों प्रकार के अक्षरों को मिला देते थे। पहले ६०० वर्षों के ब्राह्मी और द्राविड़ी अक्षर पत्थर, ताम्रपत्र, सिक्कों और मुहरों से ही विदित हुए हैं। ईसवी पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी का स्याही का एक ही लेख मिला है। यह सर्वविदित है कि व्यवहार में नए चलन के अक्षर आते हैं, चिरकाल के लिये स्थापित अभिलेखों में पुराने रूप जमा जमाकर लिखे जाते हैं। इसलिये अशोक-लेखों के अक्षरों से यह नहीं जाना जा सकता कि उस समय व्यवहार में अधिक परिमार्जित रूप न थे क्योंकि उसके पहले के ईरानी सिक्कों में वैसे रूप हैं जिन्हें बूलर के भरोसे कुशान-काल का कहना चाहिए। अतएव राजाओं की मृत्यु के पीछे देवकुल में स्थापित मूर्तियों पर, जो शिल्प तथा पालिश से पुरानी सिद्ध हो चुकी हैं, कुछ नए अक्षर मिल जायँ तो उनकी प्राचीनता का व्याघात नहीं होता, जब कि दूसरे अक्षरों की प्राचीनता निर्विवाद है। 'शेमेटिक लिपि से यथारुचि विना किसी सिद्धांत के मोड़-तोड़कर या उलटकर ब्राह्मी लिपि बनाई गई है', बूलर के इस सिद्धांत को कई लोगों ने नहीं माना है। उसे

कौशलपूर्ण किंतु विश्वास न उपजानेवाला कहा है। पिपरावा पात्र आदि के प्रमाण, बूलर के 'नए' अक्षरो का भी अशोक के पहले प्रयोग में आते रहना सिद्ध करते हैं और उसके सिद्धात को हिला देते हैं[1] ।

द्राविडी ब्राह्मी तथा पूर्वी पश्चिमी ब्राह्मी दोनो के लक्षण इन लेखों के अक्षरों मे मिलते हैं। कोई भी ऐसा अक्षर नहीं जो नया कहा जा सके, क्योकि नए अक्षरो का सिद्धात ही अप्रमाण है। इसलिये इन अक्षरों का अशोक से दो शताब्दी पूर्व का होना कुछ भी असभव नहीं।

उसी संख्या मे इन्हीं मूर्तियो के विषय मे

महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री

का लेख भी प्रकाशित हुआ है। इस लेख की कई बातें ऊपर यथास्थान आ गई हैं। यहाँ तीन प्रधान बातो का उल्लेख किया जाता है। वे प्रायः सभी बातो मे जायसवाल महाशय से सहमत हैं।

(१) यदि ये मूर्तियाँ कुशान समय की हो तो उस समय मगध पर आध्रो का अधिकार था। आध्र ठिगने, मोटे पेट और चौकोर मुँह के थे। ये मूर्तियाँ लबे, बलिष्ठ और गोल मुख के उत्तरीय मनुष्यो की हैं।

१—ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के विषय में बूलर के सिद्धात का खडन रायबहादुर पडित गौरीशकर हीराचद ओझा ने अपनी 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला' के उपक्रम में बडे विस्तार से किया है।

(२) इन लेखो की भाषा, व्याकरण, वर्णशैली आदि के विचार की कोई आवश्यकता नहीं। ये राजकीय लेख तो हैं नहीं कि राजाज्ञा से शुद्ध प्राकृत में लिखे गए हो। ऐसा होता तो लेख सामने होते। ये लेख मूर्ति खोदनेवाले ने अपनी समझौती के लिये मूर्तियो की पीठ पर लिख लिए हैं। पत्थर को आधा गढ़ कर उसने अपनी ओर से नाम खोद लिए जिससे कारखाने मे गड़बड़ न हो जाय। पीछे वस्त्र की सलवट बनाते समय अक्षरों को बचा कर बारीक काम कर दिया। भगवान्, चोणि+अधीश, सर्वक्षेत्र-पति, पद भी उसने इसी लिये लिख लिए हैं कि मूर्ति मे आकार, वस्त्र, प्रभाव आदि के क्या क्या भाव लेने चाहिएँ। साधारण शिक्षित शिल्पी के सांकेतिक चिह्नों के विषय में मागधी, अर्धमागधी, व्याकरण आदि का विचार क्या?

(३) आर्यों का पुराना वेश क्या था तथा इन मूर्तियों का वेश क्या है इसका विचार करना चाहिए। आश्वलायन गृह्यसूत्र में ब्रह्मचर्य में विद्याभ्यास समाप्त करके गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होनेवाले स्नातक का यह वेश लिखा है—उत्तरीय (चादर या दुपट्टा), अतरीय (धोती)—ये दोनों वाससी या दो वस्त्र कहे जाते हैं—उपानह (जूता), छाता, उष्णीष (पगड़ी), कर्णकुंडल, निष्क (गले मे सोने का चाँद)। दूसरे गृह्यसूत्रों मे भी जहाँ समावर्तन का प्रकरण है वहाँ स्नातक के लिये ऐसे या इससे मिलते हुए वस्त्रों का विधान लिखा है। कात्यायन श्रौतसूत्र में व्रात्यस्तोम के प्रकरण (२२वे अध्याय) में व्रात्यों के वेश का वर्णन है।

महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने उसमें से कुछ बातें गिना कर बतलाया है कि यह वेश इन मूर्तियो के वेश से कई बातो में मिलता है और यह सिद्ध किया है कि वर्तनदि या वट-नदि वास्तव मे व्रात्यनदि है।

व्रात्य[1] सावित्री (गायत्री) से पतित ब्राह्मण और क्षत्रियो को कहते हैं। जो नाम भर के ब्राह्मण या क्षत्रिय, ब्रह्मबंधु और क्षत्रबंधु

१—कात्यायन श्रौतसूत्र के प्रस्तुत प्रकरण में 'व्रात्यधन' अर्थात् व्रात्य की वेश-सामग्री में कुछ वस्तुओं को गिना गया है। व्रात्य इन्हें काम में लाते थे। व्रात्यधनों को गिना कर लिखा गया है कि (व्रात्यस्तोम यज्ञ के अंत में) दक्षिणा-दान-काल में ये व्रात्यधन मागध-देशीय ब्रह्मबंधु को दे दिए जायँ (२२) अथवा उन लोगों को दे दिए जायँ जो व्रात्य आचरण से अभी विरत न हुए हों (२३), अर्थात् व्रात्य इस व्रात्यस्तोम से शुद्ध होकर व्रात्यभाव से रहित हो जाते (२७) और व्यवहार-योग्य, विवाह याजन और भोजन के योग्य हो जाते हैं (२८), इसलिये अपना पुराना पापमय जीवन का चिह्न उन्हीं को दे देते हैं जो उनकी पहली दशा के अनुयायी हैं। क्षत्रिय तो दक्षिणा लेने का अधिकारी नहीं है, इसलिये व्रात्य क्षत्रबंधु भी अपना धन मागधदेशीय ब्रह्मबंधु को दे देता है (२२), क्योंकि वह वर्ण में उसके समान न होकर भी व्रात्यपन में तो सदृश है, अथवा अपने सदृश ब्राह्मण व्रात्यों को दे देता है (२३), क्योंकि श्रुति का प्रमाण दिया है कि उन्हीं में (अर्थात् अपने सदृश लोगों में अपने पिछले पाप को) धो देते हुए (शुद्धता को) प्राप्त होते हैं (२४)।

या राजन्यवधु, पीढ़िया से वैदिक सस्कारो से रहित थे उनकी शुद्धि व्रात्यस्तोम से की जाती थी और फिर वे व्यवहार के योग्य

व्रात्यधन ये हैं—(१) तिर्यङ्नद्धमुष्णीषम्—टेढी वँधी हुई पगडी (२) प्रतोद–तीखी नोक की श्रार, जैसी बैल हाँकनेवाले रखते हैं (३) ज्याह्रोडोऽयोग्य धनुः–विना पणच का वेकार धनुष जो ज्याह्रोड नाम से ही प्रसिद्ध था (४) वासः कृष्णशकद्रु—काले सूत से बुना हुश्रा कवरे रग का या काली किनार का कपडा (धोती—एक ही वस्त्र, दुपट्टा वा उत्तरीय नहीं) (५) रथ जो मार्ग-कुमार्ग मे जा सके जिसमे लकडी के पट्टे विछे हों तथा जिसमें कुछ श्राचार्यों के मत से काँपते हुए दो घोड़े या खच्चर जुते हों (६) निष्को राजत'—चाँदी का गले का चाँद (७) मेड की दो छाले जिनके दोनों पार्श्वों में सिलाई हो श्रौर जो काले श्रौर सफेद रग की हों। ये खालें उस व्रात्य की होती हैं जो सब से नृशस (निर्दय अथवा प्रसिद्ध) या सबसे धनवान् या सबसे विद्वान् हो। वह व्रात्यस्तोम में गृहपति बनाया जाता है। दूसरे व्रात्यों के केवल एक ही छाल होती है श्रौर रस्सी के से मोटे किनारेवाली, काली या लाल पाड़ की, दो छोर की धोती होती है। (८) दामनी द्वे—दो रस्से (कमर या पेट को बाँधने के) (९) दो जूते जिनके चमड़े के कान (चोंच, जैसी पजाबी जूतों में होती है) हों॥ (का० श्रौ० सू०, श्र० २२, कडिका ४, सूत्र २१। ऊपर भी सूत्रों के अक हैं।) पडित हरप्रसाद शास्त्री ने कर्णिन्यौ का श्रर्थ कर्णभूषण समझा है, किंतु वह जूते का विशेषण है। इस व्रात्यधन में से एक मूर्ति के सिर नहीं, एक के नंगा है, इसलिये (१) का पता नहीं। पैर नगे हैं, इससे (९)

हो जाते थे। कात्यायन के अनुसार मगधदेशीय ब्राह्मणबधु को शुद्धि में व्रात्य को वेश-सामग्री दी जाती थी। पुराणों में मगध के शैशुनाक राजाओं को क्षत्रबधु अर्थात् घटिया, नाम मात्र के, क्षत्रिय कहा है। व्रात्य संस्कारयुक्त द्विजों से हीन तो थे, किंतु गर्हित न थे। वे शुद्ध करके वर्णधर्म मे आ जाते थे। अथर्ववेद में व्रात्यो की प्रशंसा में एक काड का काड गद्य में है। सभव है कि शिशुनाक काल में अथर्व को वेदो में न गिना जाता हो, क्योकि मौर्य-काल मे भी कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में तीन ही वेद गिने हैं और आगे 'अथर्ववेदोऽपि वेद', 'इतिहासवेदोऽपि वेद' कह कर अथर्व और इतिहास को समान कोटि का कहा है।

व्रात्य भी आर्य थे। उनकी भाषा प्राकृत थी, सस्कृत नहीं। उनमे वैदिक आचार व्यवहार न था। उनमें से कुछ वैदिक सप्रदाय में आ जाते थे। उनकी शुद्धि के लिये सूत्रों मे व्रात्यस्तोम आदि का विधान है। उनके दडविधान में ब्राह्मण अदड्य न थे।

का पता नहीं। हाथ टूटे हैं, इसलिये (२) (३) का निश्चय नहीं। प्रतिमा में (५) कैसे दिखाया जा सकता है? किनारेवाला एक कपड़ा (४), दो कमरबद (८), और गले में निष्क (६) मिलते। दुपट्टा शायद मेषछाला (७) की जगह हो। दुपट्टे और धोती की सलवटें सभव है कि दशाएँ (किनारें) हों। पाड भी स्पष्ट है। दामन् दोनों कमर में बँधे ही हैं। पहले मेषछाला होती हो, राजा की मूर्ति में उसकी जगह रेशमी दुपट्टा हो गया हो।

वे अर्हतों को ब्राह्मणों की तरह मानते थे। शैशुनाक भी अर्हत के उपासक (बौद्ध या जैन) थे। मनुस्मृति मे लिच्छिवियों को व्रात्य कहा है। बुद्ध ने लिच्छिवियों के अर्हतो के धातुस्तूपों का उल्लेख किया है। शैशुनाक अजातशत्रु ने अरहत (बुद्ध) के शरीर-धातुओ पर अपना अधिकार बतलाया था। इन सब बातों से शैशुनाकों का व्रात्य होना, जैन और बौद्ध-धर्म की ओर उनका अधिक झुकाव होना तथा पुराणो में उन्हे क्षत्रबंधु कहना सगत हो जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र मे उन्हीं के वेश का उल्लेख है। कात्यायन के समय का निश्चय नहीं। राजशेखर ने लिखा है कि वैयाकरण पाणिनि और कात्यायन का पाटलिपुत्र में परीक्षित होकर सम्मान हुआ था। यह कात्यायन उसी समय का होगा।

इन मूर्तियो का वेश व्रात्यो के वेश से बहुत कुछ मिलता हुआ होने से वटनंदि या वर्तनंदि या वर्तिनंदि नाम को व्रात्यनदि क्यो न मानें ? मूर्तिकार ने अपनी समझौती के लिये नदि के पहले वट (=व्रात्य) पद लिख लिया हो जिसमे गढ़ने में क्या क्या वेश दिखाना है यह स्मरण रहे। तथा 'व्रात्यनदि' नाम ही प्रसिद्ध होकर पुराणों मे वर्तिवर्धन बन गया हो।

(४) पिपरावा पात्र के अक्षरो में भी मात्राएँ बहुत लबी है, इन लेखो में भी हैं। फिनीशियन अक्षरो तथा मोआब के पत्थर के अक्षरो से भी इन मूर्तियों के अक्षरो की बड़ी समानता है। यदि ब्राह्मी अ फिनीशियन अलिफ से बना मानें, तो फिनिशियन अलिफ बकरे की मूर्ति के दो सींगो के आकार का है। इस अ के

हो जाते थे। कात्यायन के अनुसार मगधदेशीय ब्राह्मणबधु को शुद्धि में व्रात्य को वेश-सामग्री दी जाती थी। पुराणों में मगध के शैशुनाक राजाओं को क्षत्रबंधु अर्थात् घटिया, नाम मात्र के, क्षत्रिय कहा है। व्रात्य सस्कारयुक्त द्विजो से हीन तो थे, किंतु गर्हित न थे। वे शुद्ध करके वर्णधर्म मे आ जाते थे। अथर्ववेद मे व्रात्यों की प्रशसा मे एक काड का काड गद्य में है। संभव है कि शिशुनाक काल में अथर्व को वेदो मे न गिना जाता हो, क्योंकि मौर्य-काल मे भी कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में तीन ही वेद गिने हैं और आगे 'अथर्ववेदोऽपि वेद', 'इतिहासवेदोऽपि वेद' कह कर अथर्व और इतिहास को समान कोटि का कहा है।

व्रात्य भी आर्य थे। उनकी भाषा प्राकृत थी, सस्कृत नहीं। उनमे वैदिक आचार व्यवहार न था। उनमे से कुछ वैदिक सप्रदाय में आ जाते थे। उनकी शुद्धि के लिये सूत्रों मे व्रात्यस्तोम आदि का विधान है। उनके दडविधान में ब्राह्मण अदड्य न थे।

का पता नहीं। हाथ टूटे हैं, इसलिये (२) (३) का निश्चय नहीं। प्रतिमा में (५) कैसे दिखाया जा सकता है? किनारेवाला एक कपड़ा (४), दो कमरबद (८), और गले में निष्क (६) मिलते। दुपट्टा शायद मेषछाला (७) की जगह हो। दुपट्टे और धोती की सलवटें सभव हैं कि दशाएँ (किनारें) हों। पाड भी स्पष्ट है। दामन् दोनों कमर में बँधे ही हैं। पहले मेषछाला होती हो, राजा की मूर्ति में उसकी जगह रेशमी दुपट्टा हो गया हो।

वे अर्हतो को ब्राह्मणों की तरह मानते थे। शैशुनाक भी अर्हत के उपासक (बौद्ध या जैन) थे। मनुस्मृति में लिच्छिवियों को व्रात्य कहा है। बुद्ध ने लिच्छिवियो के अर्हतो के धातुस्तूपो का उल्लेख किया है। शैशुनाक अजातशत्रु ने अरहत (बुद्ध) के शरीर-धातुओ पर अपना अधिकार बतलाया था। इन सब बातो से शैशुनाकों का व्रात्य होना, जैन और बौद्ध-धर्म की ओर उनका अधिक झुकाव होना तथा पुराणो मे उन्हे क्षत्रबधु कहना सगत हो जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र में उन्हीं के वेश का उल्लेख है। कात्यायन के समय का निश्चय नहीं। राजशेखर ने लिखा है कि वैयाकरण पाणिनि और कात्यायन का पाटलिपुत्र में परीक्षित होकर सम्मान हुआ था। यह कात्यायन उसी समय का होगा।

इन मूर्तियो का वेश व्रात्यो के वेश से बहुत कुछ मिलता हुआ होने से वटनदि या वर्तनदि या वर्तिनदि नाम को व्रात्यनदि क्यों न माने ? मूर्तिकार ने अपनी समझौती के लिये नदि के पहले वट (=व्रात्य) पद लिख लिया हो जिसमें गढने में क्या क्या वेश दिखाना है यह स्मरण रहे। तथा 'व्रात्यनदि' नाम ही प्रसिद्ध होकर पुराणों में वर्तिवर्धन बन गया हो।

(४) पिपरावा पात्र के अक्षरो मे भी मात्राएँ बहुत लबी हैं, इन लेखों मे भी हैं। फिनीशियन अक्षरों तथा मोआब के पत्थर के अक्षरो से भी इन मूर्तियों के अक्षरो की बड़ी समानता है। यदि ब्राह्मी अ फिनीशियन अलिफ से बना माने, तो फिनिशियन अलिफ़ बकरे की मूर्ति के दो सींगो के आकार का है। इस अ के

भी सींग देख लीजिए। ब बेय से बना है तो बेय खुले मुँह का चौकोर संदूक-सा था। इस जगह भी सबखतो का ब देख लीजिए।

उपसंहार

इस लेख का लेखक तथा रायबहादुर पडित गौरीशकर हीराचद ओझा इन मूर्तियो तथा इन पर के लेखो के विपय मे जायसवाल महाशय के मत से सहमत हैं। विरोधपक्ष की जो जो कोटियाँ हैं वे बहुधा आग्रह तथा प्राचीनवाद को लेकर उठाई गई हैं। इस लेख में बहुत तथा बड़े बडे लेखो का सार दिया गया है तथा स्थान स्थान पर अपनी ओर से विस्तार भी कर दिया गया है क्योकि ऐसी बातो का विवेचन हिदी पढ़नेवालो के लिये सक्षेप में लिखना असभव था। कई जगह इस लेख मे तथा देवकुल के लेख में अपनी ओर से कुछ नई बातें भी जोड़ दी गई हैं। विद्वानो तथा लेखको के नामो का एकदेश और एकवचन से व्यवहार भी जो कहीं कहीं हो गया है, क्षतव्य है।

चित्रपरिचय

हम इस लेख के साथ कई चित्र दे रहे हैं। उनका वर्णन इस प्रकार है।

पहला चित्र—

दीदारगंज की मूर्ति

दूसरा और तीसरा चित्र—

मूर्तियो पर के लेख। अक्षर उभरे हुए तथा उलटे आए हैं। सलवटों की रेखाएँ तथा उनसे अक्षरा का सबध स्पष्ट दिखाई देता

है। चित्र मूर्तियों के प्रकृत अंश की आधी नाप का है। ऊपर का लेख अज-उदयिन् की मूर्ति पर है, नीचे का वर्तनंदि की प्रतिमा पर।

चौथा और पाँचवाँ चित्र—

अज-उदयिन् और वर्तनदि की प्रतिमाएँ—एक ओर से फोटो। नीचे के पीठ कलकत्ते के इंडियन म्यूजियम के हैं।

छठा चित्र—

अज उदयिन् की मूर्ति, सामने से। फुँदे और पैर पलस्तर से पीछे से बनाए गए हैं।

सातवाँ चित्र—

वर्तनंदि की मूर्ति, पीछे से। अधोवस्त्र की सलवटे, दुपट्टे की चुनावट और निष्क के फुँदे दिखाई दे रहे हैं। कंधे पर दुपट्टे के सिरे पर लेख के अक्षर दिखाई दे रहे हैं।

आठवाँ चित्र—

कागज के छापों से लेखों के असली आकार की नकल। बिहार-उडीसा के पूर्वी हल्के के सुपरिटेंडिंग एंजिनियर मिस्टर विशुनस्वरूप की बनाई हुई। अक्षरों के नीचे अंक दिए हैं।

पहला लेख—	(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
	भ	गे	अ	चो	छो	नी	धी	शे
दूसरा लेख—	(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
	स	व	ख	ते	व	ट	नं	दि

भी सींग देख लीजिए। ब बेय से बना है तो बेय खुले मुँह का चौकोर संदूक-सा था। इस जगह भी सबखतो का ब देख लीजिए।

उपसंहार

इस लेख का लेखक तथा रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा इन मूर्तियो तथा इन पर के लेखों के विषय मे जायसवाल महाशय के मत से सहमत हैं। विरोधपक्ष की जो जो कोटियाँ हैं वे बहुधा आग्रह तथा प्राचीनवाद को लेकर उठाई गई हैं। इस लेख मे बहुत तथा बडे बडे लेखों का सार दिया गया है तथा स्थान स्थान पर अपनी ओर से विस्तार भी कर दिया गया है क्योंकि ऐसी बातों का विवेचन हिंदी पढ़नेवालो के लिये संक्षेप में लिखना असंभव था। कई जगह इस लेख में तथा देवकुल के लेख में अपनी ओर से कुछ नई बातें भी जोड़ दी गई हैं। विद्वानो तथा लेखकों के नामो का एकदेश और एकवचन से व्यवहार भी जो कहीं कहीं हो गया है, क्षतव्य है।

चित्रपरिचय

हम इस लेख के साथ कई चित्र दे रहे हैं। उनका वर्णन इस प्रकार है।

पहला चित्र—

दीदारगंज की मूर्ति

दूसरा और तीसरा चित्र—

मूर्तियो पर के लेख। अक्षर उभरे हुए तथा उलटे आए हैं। सलवटो की रेखाएँ तथा उनसे अक्षरा का संबंध स्पष्ट दिखाई देता

है। चित्र मूर्तियों के प्रकृत अंश की आधी नाप का है। ऊपर का लेख अज-उदयिन् की मूर्ति पर है, नीचे का वर्तनदि की प्रतिमा पर।

चौथा और पाँचवाँ चित्र—

अज-उदयिन् और वर्तनदि की प्रतिमाएँ—एक ओर से फोटो। नीचे के पीठ कलकत्ते के इंडियन म्यूज़ियम के हैं।

छठा चित्र—

अज उदयिन् की मूर्ति, सामने से। फूँदे और पैर पलस्तर से पीछे से बनाए गए हैं।

सातवाँ चित्र—

वर्तनदि की मूर्ति, पीछे से। अधोवस्त्र की सलवटें, दुपट्टे की चुनावट और निष्क के फूँदे दिखाई दे रहे हैं। कंधे पर दुपट्टे के सिरे पर लेख के अक्षर दिखाई दे रहे है।

आठवाँ चित्र—

कागज के छापों से लेखों के असली आकार की नकल। बिहार-उड़ीसा के पूर्वी हल्के के सुपरिंटेंडिंग एंजिनियर मिस्टर बिशुनस्वरूप की बनाई हुई। अक्षरों के नीचे अंक दिए हैं।

पहला लेख—	(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
	भ	गे	अ	चो	छो	नी	धी	शे
दूसरा लेख—	(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
	स	व	ख	ते	व	ट	नं	दि

नवाँ चित्र—

महामहोपाध्याय पडित हरप्रसाद शास्त्री कृत लेखों की नकल जो उन्होंने मूर्तियो को देख देखकर बनाई है। अंक उसी क्रम से दिए हैं। बिदुवाली पत्थर की रेखा दर्ज है।

दसवाँ चित्र—

देख देखकर मिस्टर ग्रीन की बनाई हुई सदिग्ध अक्षरो की नकल। प्रथम लेख में से (४) चो (५) छो। द्वितीय लेख में से (१) स (या ष) (२) व (प) (३) खे।

ग्यारहवाँ चित्र—

मिलान के लिये भिन्न भिन्न अक्षर।

पहली पक्ति – (१) मूर्ति के लेख का
'व' (२) बूलर के मत में सबसे पुराना
(३) मथुरा का
(४) हाथी गुफा का

दूसरी पक्ति —(५) मूर्ति के लेख का ध (ई की मात्रा छोडकर)
ध 'धी' (६) भट्टिप्रोलु का
(७) कालसी का
(८) गिरनार का
(९) नानाघाट का
(१०) कोल्हापुर का
(११) नासिक का।

अगले दो रूप फिनीशियन के हैं।

तीसरी पंक्ति—(१२), (१३), मूर्ति के लेख का
स (ष) (१४) कालसी का ष
(१५) दशरथ का ष
(१६) घसूंडी का ष
(१७) दिल्ली का स।

चौथी पक्ति—(१८) मूर्ति का श (ए की मात्रा छोड़कर)
श (१९) भट्टिप्रोलु का श या ष
(२०) कालसी का श
(२१) मामूली ब्राह्मी श
(२२) कालसी का श
(२३) (२४) हैदराबाद समाधियों का
(२५) (२६) उसी अक्षर का विकास

पाँचवीं पक्ति—(२७) मूर्ति का
भ (२८) हैदराबाद की समाधि का
(२९) सेवियन लिपि का
(३०) (३१) कालसी का
(३२) भट्टिप्रोलु का
(३३), (३४) उसी का विकास

छठीं पंक्ति—(३५) गिरनार का
न (३६) गिरनार का
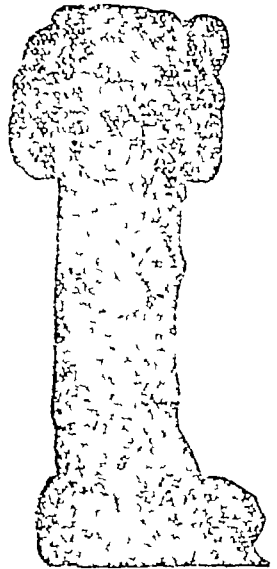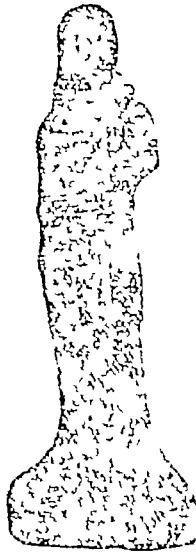
वर्तनदि की मूर्ति

अज-उदयिन् की मूर्ति
(सामने से)

वर्तनदि की मूर्ति
(पीछे से)

(४)
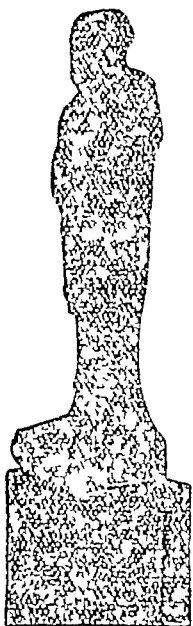
अज-उदयिन् की मूर्ति

(३)
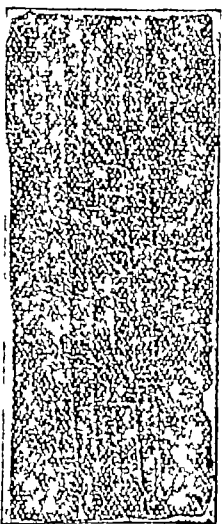
वर्तनदि की मूर्ति का लेख

(२)

अज-उदयिन् की मूर्ति का लेख
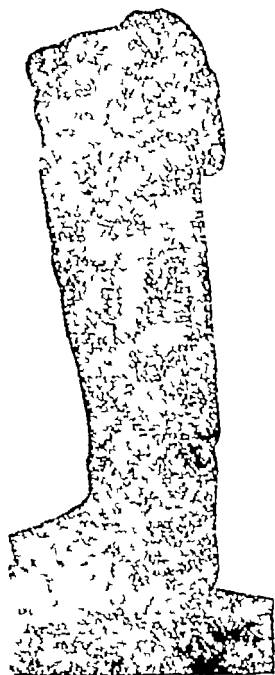
वर्तनदि की मूर्ति

अज-उदयिन् की मूर्ति (सामने से)
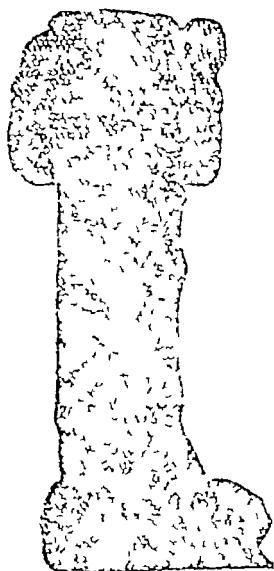
वर्तनदि की मूर्ति (पीछे से)

राजाओं की नीयत से बरकत

उनका कमाई के लिये मूर्तियाँ पधराना

प्रबंधचिंतामणि मे एक कथा है कि एक समय राजा भोज केवल एक मित्र को साथ लिए हुए रात को नगर मे घूम रहा था, प्यास से व्याकुल होकर किसी वेश्या के घर जा उसने मित्र द्वारा जल मँगाया। वह शंभली अति प्रेम से किंतु कुछ देर से तथा खेद जतलाकर साँठे के रस से भरा करुआ लाई। मित्र ने उसके खेद का कारण पूछा तो वह बोली "पहले एक गन्ने के रस मे एक घड़ा और एक वाहटिका (वाटी, वाटकी = कटोरा) भर जाता था, किंतु अब राजा का मन प्रजा की ओर विरुद्ध है इसलिये इतनी देर में (एक साँठे से) एक वाहटिका ही भरी, यही मेरे खेद का कारण है।" राजा ने यह सुनकर सोचा कि शिवमंदिर मे कोई बनिया बड़ा भारी नाटक करा रहा था, मेरे चित्त मे उसे लूटने की आई, इसलिये यह जो कहती है सत्य है। राजा लौटकर घर आया और सो गया। दूसरे दिन राजा प्रजा पर कृपा दिखाकर फिर उस पणरमणी के घर गया और साँठे में अधिक रस हो जाने के संकेत से यह जानकर कि आज राजा प्रजा की ओर वत्सलता दिखाता है उस वेश्या ने यही कहकर राजा को संतुष्ट किया[1]।

१—प्रबंधचिंतामणि पृष्ठ ११४-१५।

इस कहानी पर मु शी देवीप्रसादजी ने कृपा करके यह विशेष लेख भेजा है जिसके लिये मैं उनका उपकृत हूँ।

"ऊपर लिखी कहानी से मिलती हुई कथा कई फारसी किताबों मे देखी गई। एक किताब (शायद 'इखलाक महोसनी') मे उस बादशाह का नाम भी बहरामगोर पढ़ा था। यह कहानी बहुत मशहूर है, हिदू मुसलमान बादशाहों की नीयत के बारे मे मिसाल के तौर पर इसे कहा करते हैं। जहाँगीर बादशाह ने भी उसको अपनी तुजुक की दूसरी जिल्द में एक प्रसग से लिखा है जब कि वे उज्जैन मे थे और प्रसग शिकार का था। वे लिखते है कि 'जुमे के दिन (१३वे नौरोज के) आजर[1] महीने की पहिली तारीख को दिल में बाज और जुर्रे के शिकार की रगबत (रुचि) बढ़ी तो सवारी जुवार के खेत में होकर निकली। हर एक तने (सटी) मे एक ही बाली निकला करती है पर एक तना ऐसा देखने मे आया जिसमें १२ बालियाँ थीं, (देखकर) हैरत हुई और उस वक्त बादशाह और बागबान की हिकायत (बात) याद आई।

"एक बादशाह गर्म हवा में एक बाग के दरवाजे पर पहुँचा। बूढा बागबान दरवाजे पर खड़ा था। पूछा कि इस बाग मे अनार हैं? कहा 'हैं'। बादशाह ने फरमाया कि एक प्याला अनार के रस का ला। बागबान की लड़की अच्छी सूरत और स्वभाव की थी, उसको इशारा किया कि अनार का रस ले आ।

१—पूस बदी ६ शुक्रवार स० १६७५, ता० २७ नवबर १६१८।

लड़की गई और फौरन एक प्याला अनार के रस का बाहर ले आई। उस पर कुछ पत्ते भी रखे थे।

"बादशाह ने उसके हाथ से लेकर पी लिया और लड़की से पूछा कि रस पर इन पत्तों के रखने का क्या मतलब था। उसने बड़ी मीठी बोली से अर्ज किया कि ऐसी गर्म हवा में पसीने से डूबे हुए और सवारी से पहुँचने में एक दम पानी पीना हिकमत के खिलाफ़ है, इस विचार से मैंने पत्ते रस और प्याले के ऊपर रख दिए थे कि धीरे धीरे पीएँ।

"उसकी यह सुहानी अदा सुलतान के मन में भा गई और उसने चाहा कि मैं इस लड़की को महल की खिदमतगारनियों में दाखिल करूँ।

"फिर उस बागबान से पूछा कि तुझको इस बाग से क्या हासिल होता है। कहा, ३०० दीनार। कहा, दीवान (कचहरी) में क्या देता है। कहा, कुछ नहीं। सुलतान किसी पेड़ का कुछ नहीं लेता है बल्कि खेती का भी दसवाँ हिस्सा ही लेता है।

"बादशाह के मन में आया कि मेरी सलतनत में बाग बहुत और दरख्त बेशुमार हैं, अगर बाग के हासिल भी दसवाँ भाग दें तो काफी रुपया होता है, और रैयत को कुछ नुक्सान भी नहीं पहुँचता। अब फरमा दूँगा कि बागों का भी महसूल लिया करें।

"फिर कहा कि अनार का कुछ रस और भी ला। लड़की गई और देर में अनार के रस का एक प्याला लाई। सुलतान ने कहा कि जब तू पहले गई थी तो जल्दी आ गई थी और बहुत

ज्यादा ले आई थी। अब तूने बहुत रास्ता दिखाया और थोड़ा भी लाई। लडकी ने कहा कि तब तो मैंने प्याला एक ही अनार के रस से भर लिया था, अब ५ ६ अनारो को निचोडा और उतना रस नहीं निकला। सुलतान की हैरत और भी बढ़ गई।

"बागवान ने अर्ज की कि महसूल में बरकत बादशाह की नेक नीयती से होती है। मेरे मन मे ऐसा आता है कि तुम बादशाह होगे। जब तुमने बाग का हासिल मुझसे पूछा तो तुम्हारी नीयत डावाँडोल हो गई जिससे फल की बरकत जाती रही। सुलतान पर इस बात का बडा असर (प्रभाव) पडा और उसने उस ख़याल को दिल से दूर करके कहा कि एक बेर फिर अनार के रस का एक प्याला ला। लडकी फिर गई और जल्दी से भरा हुआ प्याला बाहर ले आई और उसने उसे हँसते-खेलते सुलतान के हाथ मे दिया।

"सुलतान ने बागबान की बुद्धिमानी पर शाबाशी देकर सारा हाल जाहिर कर दिया और लडकी बागबान से माँग ली। उस ख़बरदार बादशाह की यह हिकायत दुनिया के दफ़्तर में यादगार रह गई।'

"जहाँगीर अपनी ओर से इस कहानी पर लिखते हैं कि इन बातो का जाहिर होना नेकनीयत और इसाफ़ के नतीजों से है। जब कि इसाफी बादशाहो की नीयत और हिम्मत दुनिया के आराम और रैयत की भलाई मे लगी रहे तो नेकियो का जाहिर होना, खेतियों तथा बागों की पैदावारो का बढ़ जाना मुश्किल नहीं

है। खुदा का शुक्र है कि इस सलतनत (हिंदुस्तान) मे पेड़ो के हासिल लेने की लाग कभी नहीं थी और न अब है। अमलदारी के सारे मुल्को में एक दाम और एक कौड़ी भी इस सीगे (खाते) की दीवान-आला और खजाने आमरे मे दाखिल नहीं होती है बल्कि हुक्म है कि जो कोई खेती की ज़मीन में बाग लगावे तो उसका हासिल माफ रहे। उम्मेद है कि सच्चा ख़ुदा इस न्याजमंद (दीनहीन) को हमेशा नेकनीयती की श्रद्धा दे।

"जब मेरी नीयत भलाई की है तो तू मुझे भलाई दे[1] ॥"

"फारसी भाषा के एक कवि ने बादशाहो की नेक नीयत का बखान करते हुए कहा है—

'चु नीयत नेक बाशद बादशा रा।
बजाए गुल गुहर खेजद गियारा ॥

'अर्थात् जो बादशाह की नीयत नेक हो तो फूल की जगह घास मे मोती लगे।"

ऊपर जो कहा है कि भोज के मन में शिवमंदिर के नाटक को लूटने की आई वह चाहे अनुचित हो, किंतु लोगो के धर्मविश्वास और विनोद से कमाई करना राजाओं का धन-संग्रह करने का पुराना उपाय है। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में एक कोशाभिसंहरण का प्रकरण (९२) है। उसमें प्रजा से नजराने लेने, सम्मान के बदले धन लेने आदि का वर्णन करके लिखा है कि कुशीलव (नाटककार) और रूपाजीवा (वेश्या) से राजा उनकी आधी

१—तुज़ुक जहाँगीरी, जिल्द २, पृ० २५३-५४।

कमाई ले ले। आगे धर्म के धन की कथा चलती है—"किसी भी पाखंड (धर्म-पंथ) के संघ का धन, या ऐसा देवधन जिसे वेद पढ़े हुए (श्रोत्रिय) न भोगते हो, कृत्यकार (हथकंडो मे उस्ताद) लोग यो कहकर खजाने में पहुँचा दें कि हमने वह धन किसी ऐसे के यहाँ रखा था जो मर गया, या ऐसे घर मे रखा था जो जल गया। देवताध्यक्ष (अधिकारी) दुर्ग और राष्ट्र के देवताओ का जितना धन हो उसे एकत्र करके कोश बना ले और वैसे ही ले आवे। रात ही रात मे कहीं पर देवमंदिर या चितास्तूप या कोई सिद्धस्थान या अद्भुत घटना खडी करके वहाँ यात्रा और समाज लगवा देवे और उनसे (यात्रा तथा समाजो मे आनेवालो के चढ़ावे से) कमावे। यदि चैत्य या बाग के वृक्ष में बिना समय फूल फल आ जाय तो देवता का आ जाना (कोप) प्रसिद्ध करे (और शाति के चढ़ावे उगाहे)। वृक्ष मे किसी मनुष्य को छिपा उसके द्वारा राक्षस का भय दिखलाकर सिद्ध का स्वांग बनाए हुए लोग पुर और देशवासियो के सुवर्ण से उसका प्रतीकार (शांति) करावें। सोना भेंट चढाने पर सुरंगवाले कुएँ मे नाग दिखलावे जिसका सिर बँधा रहे (कि वह दर्शको को न काटे) श्रद्धालुओ को (भेट लेकर) नाग की प्रतिमा[1] मे जिसमें भीतर छेद हो, या

१—कहते हैं कि जयपुर में महाराज रामसिंहजी के समय में एक गुसाई जी आए थे जिनके ठाकुरजी शयन-आरती के पीछे नृत्य करते थे। 'श्रद्दधानो' की भीड होने लगी। एक दिन महाराज पहुँच गए और जब नूपुरों की ध्वनि हो रही थी, उन्होंने पर्दा हटा दिया।

मंदिर या समाधि के छेद मे, या वल्मीक के छेद में प्रत्यक्ष नाग का दर्शन करावे, पहले उसे खिलाकर सुस्त बना दे। जो श्रद्-दधान न हो उनके आचमन और छींटने के पानी में कोई (नशे का) रस मिलाकर (उनके वेहोश होने पर देवता का कोप वतावे या किसी लावारिस को सॉप से कटवाकर अपशकुन मिटाने के लिये शाति करने के वहाने से कोश मे धन इकट्ठा करे[1]।" इस प्रसग मे 'सर्पदर्शन' उसी ढग से आया है जिस ढंग से अशोक के प्रज्ञापन मे 'विमानदसनानि'।

जैसा कि कौटिल्य ने लिखा है, राजा लोग धन उगहाने के लिये रात को (नया) दैवत चैत्य खड़ा कर वहॉं पर यात्रा और समाज लगवा कर कमाते थे। इसका प्रमाण पतंजलि के महाभाष्य के उस अश से मिलता है जिसमें कहा गया है "हिरण्यार्थी मौर्यों से अर्चाऍं प्रकल्पित की गई"। इस पर वहुत टीका-टिप्पणी, वाद-विवाद और संदेह-सदोह हुए हैं[2]। कभी अर्थ किया गया कि

क्या देखते हैं कि चूहो के पैरों में मॅर्जारे वॅधे हैं और वे प्रसाद के लोभ से इधर-उधर फिरकर रासलीला कर रहे हैं। सुनते हैं कि संप्रदायों से महाराज की अरुचि का आरभ उस दिन से हुआ।

१--पृष्ठ २४२। अनुवाद मेरा है और पहले अनुवाद से कुछ भिन्न है।

२—गोल्डस्टुकर (पाणिनि पृ० १७५–६), वेवर और भंडारकर (इं० ए० जिल्द १, २), भंडारकर और पीटर्सन का विवाद (ज० ब्रा० ब्रॅ० रा० ए० सो०) और जायसवाल (इं० ए० जिल्द ४७)।

मौर्यों ने सोने की जरूरत पडने पर प्रतिमाएँ बेचा, कभी कहा गया कि प्रतिमाएँ गला कर सिक्के बनाए। उस प्रसग का पूरा अर्थ यहाँ दे दिया जाता है।

पाणिनि कहते हैं कि किसी वस्तु के सदृश उसकी प्रतिकृति या मूर्ति बनाई जाए तो उसके आगे क प्रत्यय होगा, जैसे अश्व की सी अश्व की मूर्ति अश्वक[1]। जो प्रतिकृति जीविका के लिये बनाई हो, परतु बिक्री के लिये न हो वहाँ क नहीं लगता[2]। जैसे सिलावट मे शिव, स्कद या विशाख की मूर्तियाँ गढ कर बजार मे बेचने को रखी हो तो वे शिवक, स्कदक, विशाखक, कहलाएँगी किंतु यदि वे बिक्री के लिये न होकर जीविका के लिये हों तो शिव, स्कद या विशाख ही कहलाएँगी। वे मूर्तियाँ कौन हो सकती हैं जो अपण्य होकर भी जीविकार्थ हों? स्मरण रहे कि क न लगने के लिये दो शर्तें पूरी होनी चाहिएँ—मूर्ति बिक्री के लिये न हो और उससे जीविका भी चल जाय। काशिका और कौमुदी का मत है कि ये देवलक (पुजारी) आदि की जीविका देनेवाली देवप्रतिकृतियो के लिये हैं। कैयट कहता है कि जिन मूर्तियो को लेकर घर घर (पुजारी) फिरते हैं उनसे मतलब है। इसी को देखकर कौमुदी के टीकाकार ने घुमाई जानेवाली मूर्तियो को इस सूत्र मे माना है, और स्थिर प्रतिमाओ को क से बचाने के लिये पाणिनि

१—इवे प्रतिकृतौ ५।३।९६

२—जीविकार्थे चापण्ये ५।३।९९।

के अगले सूत्र मे देवपथ आदि की शरण ली है[1]। घरो मे पूजी जानेवाली मूर्तियाँ जो केवल पूजनार्थ होती हैं, जिनसे जीविका नहीं होती, वे देवपथादि मे हैं। वस्तुत घर घर घूमनेवाली और मदिरो मे स्थिर रहनेवाली मूर्तियो मे कोई भेद नहीं है, दोनो ही अपराय हैं, दोनो ही जीविकार्थ हैं। क कहाँ कहाँ नहीं जुड़ता इसका वैयाकरणों का एक सग्रह श्लोक है—केवल पूजन के काम की अर्चाओ मे, चित्रकर्म (=तसवीरो) में (उदा०—अर्जुन की तसवीर = अर्जुन, अर्जुनक नहीं), ध्वज (= झंडो पर बनी मूर्ति) मे (उदा०—अर्जुन के रथ के झंडे पर कपि की मूर्ति = कपि, कपिक नहीं) और देवपथ आदि गिने हुए शब्दो मे (उदा०—उष्ट्रग्रीवा पतली गरदन की सुराही, उष्ट्रग्रीविका नहीं, काव्यों मे शराव पीने की चुसकी के लिये उष्ट्रिका आता है) प्रतिकृति और सादृश्य अर्थ में क नहीं लगता[2]। अब व्याकरण की वात वहुत हो चुकी, पतजलि की ऐतिहासिक टिप्पणी पर आइए।

१—देवपथादिभ्यश्च ५।३।१०० ।

२—अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च। इवे प्रतिकृतौ लोपः कनो देवपथादिषु ॥ गणरत्नमहोदधि में किसी वैयाकरण के 'प्रतिच्छन्देऽनर्चादेः' सूत्र पर इस देवपथादिगण को अर्चादि कहा है। उसके श्लोक ये हैं—अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मनटध्वजे। चञ्चाखरकुटीदासीवध्रिका नरि काश्यप.॥ देवराजाजशङ्कुभ्यः करिसिन्धुशतात् पथ'। सिद्धोग्राभ्या गतिग्रीवे वामाद्रज्जु' स्थलात् पथ.॥ खरकुटी = नाई की दुकान।

पाणिनि—जीविकार्थे अपण्य (सदृश प्रतिकृति) में भी (क नहीं लगता)।

पतंजलि [१]—(सूत्र मे जो) यह कहा गया है कि 'अपण्य में' तो यह सिद्ध नहीं होता—शिव, स्कंद, विशाख, क्या कारण है? सोना चाहनेवाले मौर्यों ने अर्चा कल्पित की थीं (मौर्यों ने यात्रा और समाजो से रुपया कमाने के लिये शिव, स्कद और विशाख की मूर्तियाँ चलाई थीं। यह तो दूकानदारी थी, कमाई थी, सरासर बिक्री थी। यह तो कोई बात नहीं कि गरीब सिलावट मूर्ति बनाकर धन कमावे तो वह मूर्ति शिवक कहलावे और बड़े राजा दूकानदारी करें तो वह शिव ही कहलावे। क्या व्याकरण के प्रत्यय भी राजाओ के हुक्मी बदे हैं? इसका उत्तर देते हैं)—खैर, उनमें न सही (उनमे क मत उड़ाओ, उन्हें शिवक आदि ही कहो) किंतु जो ये आज कल पूजा के लिये हैं (चाहे वे मौर्यों की कल्पित हों चाहे किसी और की) उनमें तो हो जायगा (मौर्यों की बनाई मूर्तियाँ उनके समय में पण्य थीं उन्हें शिवक कहो, अब तो मौर्य नहीं रहे, उनकी दूकान उठ गई, यदि उनकी बनाई मूर्तियाँ अब तक पुजती हैं, या किसी और की स्थापित मूर्तियाँ हैं, वे पण्य नहीं हैं, केवल पुजारियो की जीविकार्थ हैं, उन्हें तो शिव, स्कद आदि कहो)।

१—अपण्य इत्युच्यते तत्रेद न सिद्ध्यति—शिव. स्कन्दो विशाख इति। किं कारणम्? मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत्, तासु न स्यात्। यास्त्वेता. सप्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति।

कैयट—(पतंजलि के 'जो ते वे' आदि लेख पर) इसका अर्थ यह है कि जिन्हे लेकर घर घर फिरते हैं उनमे (क का लोप हो जायगा), जो वेची जाती हैं उनमें (लोप) न होगा (क रह जायगा), जैसे शिवको को वेचता है।

नागोजीभट्ट—(पतजलि के 'मैार्यों ने' आदि लेख पर) मैार्य 'वेचने के लिये' प्रतिमा के शिल्पवाले (विक्री के लिये मूर्तियाँ वनाने का व्यवसाय करनेवाली, शिल्प जाननेवाली जाति,) हैं उन्होने मूर्तियाँ वनाई है। 'वेचने के लिये' इतना और (पतंजलि के वाक्य मे) जोडो। इसलिये, उनके पण्य होने से वहाॅ (क) प्रत्यय सुनाई देने का मैाका है यह मतलव है। वहाॅ (क) प्रत्यय का सुनाई पडना ठीक ही है यह कहते हुए (पतंजलि) सूत्र का क न रहने का उदाहरण दिखाते हैं 'उनमें हो, जो ते ये' इत्यादि से। 'आजकल पूजा के लिये (अर्थात्) सप्रति = अपने वनाने के समान काल मे ही फल उपजानेवाली जो (प्रतिमाएँ) पूजा और जीविका देनेवाली होने से उस (जीविका देने के) अर्थवाली हैं, यह अर्थ है। वही (कैयट) कहता है—'जिन्हें लेकर' इत्यादि। जो मूर्तियाॅ घर में शिघ्रो से पूजी जाती हैं उनमे ते शिव की अभेद वुद्धि होने से और साहश्य की वुद्धि न होने से (क) प्रत्यय होता ही नहीं। (सग्रहकारिका की याद करके) यो ही चित्रो के लिये देखना।

कैयट ने ऐतिहासिक वात का कुछ व्याख्यान नहीं किया। 'यास्त्वेता. सप्रति पूजार्था ' मे भी घर घर घुमाई जानेवाली मूर्तियो

की बात की। नागोजी ने मौर्य का अर्थ मूर्ति बनानेवाली जाति किया, यह न सोचा कि मूर्ति बनानेवालों का पेशा यही है, उनकी बनाई मूर्ति सदा पण्य होगी, उसमें क न लगने का मौका ही कहाँ आवेगा? पतंजलि के उदाहरण के लिये कोई ऐसी मूर्तियाँ चाहिएँ जो प्रत्यक्ष में अपण्य हों किंतु असल में पण्य हों, जिनकी दूकानदारी छिपी हो। ऐसी मूर्तियाँ वे ही हो सकती हैं जो, अर्थशास्त्र के अनुसार राजाओं ने 'यात्रासामाजाभ्या-मुपजीवेत्' के लिये खड़ी की हों। फिर संप्रति का अर्थ आजकल, भाष्यकार के समय में, न समझ कर वह कहता है कि अभी, बनाते ही, जिनसे पूजा और जीविका का लाभ हो। आगे उसे यह बरदाश्त न हुई कि घर के शिवलिंग को कोई शिव की 'प्रतिकृति' कह दे। उसमें तो सादृश्य की बुद्धि ही नहीं, अभेद की बुद्धि ठहरी, वहाँ 'इवे प्रतिकृतौ' की गुंजाइश ही नहीं।।

मेरे पास सं० १८७२-४ का पंजाब के प्रसिद्ध विद्वान् सारस्वत पं० जैसरामजी का स्वहस्तलिखित एक संपूर्ण सकैयट महाभाष्य है जिसपर मैंने अध्ययन किया था।[1] उसमे इस स्थल पर पं०

१—भिन्न भिन्न अध्यायों के लिखे जाने का काल रोचक होने से यहाँ दिया जाता है—

प्रथम अध्याय (दो आह्निको में विवरण भी साथ हैं)—संवत् १८७२ ज्येष्ठ शुक्ल १३।

द्वितीय अध्याय—संवत् १८७४ आखा(!)ढ कृष्ण १४ भृगुदिने।

जैसरामजी के हाथ की टिप्पणी है। पहले तो नागोजी का मत लिखा है कि "विक्रेतुं प्रतिमाशिल्पवतो मौर्या इति विवरणकारा." आगे लिखा है "क्षत्रियविशेषेषु तु प्रसिद्धा"। इस 'तु' से जान पड़ता है कि पुराने पंडितो मे मौर्यराजाओं के अर्चाएँ बनाने की कुछ परंपरागत प्रसिद्धि थी और वे नागोजी के अर्थ से संतुष्ट न थे।

——

तृतीय अध्याय—सवत् १८७४ दीपमालिकायाम् [=कार्तिक कृष्ण ३०]

चतुर्थ अध्याय—सवत् १८७४ पौषसिताष्टम्याम् [=पौष शुक्ल ८]

पचम अध्याय—सवत् १८७४ आश्विन सिते ११ ।

षष्ठ अध्याय—तिथि नहीं है ।

सप्तम अध्याय— सवत् १८७२ शिवरात्र्याम् [=फाल्गुन कृष्ण १४]

अष्टम अध्याय—सवत् १८७३ कार्तिक शुक्ल १५ ॥ सकैयट महाभाष्य जेसरामेण धीमता। भवानीदासपुत्रेण लिखित शोधितं तथा ॥ तदस्तु प्रीतये भूयो भवानीविश्वनाथयोः ॥ श्रीगुरुभ्यो नमो नित्य पितृभ्यश्च नमो नमः ॥ २ ॥ श्रीमद्विश्वेश्वरः प्रीयताम् ॥ शुभ भवतु ॥

बौद्धों के काल में भारतवर्ष

प्रोफेसर रिस डेविड्स ने, राष्ट्र-कथा-माला में, इस नाम का एक ग्रंथ गुंफित किया है। उसमे कई विलक्षण बातें हैं। प्रोफेसर साहब के अनुसार ब्राह्मणों के लेख विश्वासपात्र नहीं है। सब युद्धो में, कामो में उन्होंने अपने ही को प्रधान बताया है। किंतु उनकी बातें देश भर की बातें नहीं हैं। बौद्ध-धर्म सर्वसाधारण के उद्योग का फल है और राष्ट्रीय उन्नति मे ब्राह्मण पृथक् रह गए थे। जैनो और बौद्धों के ग्रंथ राजपूतो के लिखे हुए हैं। इस ग्रंथ मे उनके ही लेख अर्थात् पाली ग्रंथो से बुद्ध भगवान् के निर्वाण से लेकर कनिष्क पर्यंत काल का ऐतिहासिक चित्र देने का यत्न किया गया है। इससे प्राचीन इतिहास में कई अंतर लक्षित होते हैं। ब्राह्मणों के अनुसार तो 'ब्राह्मणो के अधीन स्वतंत्र राजा' यही भारतवर्षीय राजप्रणाली थी किंतु पाली ग्रंथों के अनुसार राजतंत्र के साथ साथ ही प्रजातंत्र भी पाए जाते हैं। (अवश्य ही बौद्धधर्म सर्व साधारण की समानता और प्रजातंत्र के जन्म का कारण हुआ होगा।) ये चक्रवर्ती अशोक के शिला-लेख और चरित्र बौद्ध ग्रंथो में पाए जाते हैं किंतु ब्राह्मण ग्रंथों मे उसका नाम भी नहीं है। (कोई बतावे तो अशोक के पीछे के ब्राह्मण ग्रंथ कौन से हैं ?) उसने ब्राह्मणों का भूसुर होना मिटाया था। धर्म-विषय मे प्रोफेसर साहब कहते हैं कि ब्राह्मण ग्रंथो मे प्रजा

का धर्म नहीं है, किंतु ब्राह्मण प्रजा पर जो धर्म चिपकाना चाहते थे वही धर्म लिखा है, ब्राह्मणेतरो के साहित्य में वैदिक देवताओ की और अधिक खर्च करानेवाले यज्ञो की चर्चा नहीं है। (युरोपीय आचार्य मान बैठे हैं कि ब्राह्मणशत्रुओ का कहा सत्य है और ब्राह्मणों का मिथ्या। इसी तरह जब यह कहा जाता है कि ब्राह्मणों ने ईर्ष्या वा घृणा से बौद्धों का वा प्रजा का विश्वास नहीं वर्णन किया, वैसे ही यो क्यो नहीं कह सकते कि बौद्ध-ग्रंथ-लेखको ने ईर्ष्या से वास्तवधर्म का अपलाप किया?) यज्ञों के अधिक व्ययशाली होने से तप अर्थात् आत्मयज्ञ की सृष्टि हुई। (नहीं, बौद्धों से सैकड़ों वर्ष पहले उपनिषदों में यह हो चुकी थी।) ब्राह्मणों का आदर था, किंतु उतना न था जितना वे बताते हैं। उस समय श्रमण और परिव्राजक भी हो गए थे जिनका आदर ब्राह्मणो से कम न था और इस लडाई से निराश होकर ब्राह्मणों ने आश्रम-कल्पना की, जिससे बिना गृहस्थ रहे और वृद्ध हुए कोई मनुष्य परिव्राजक न बन सके। उन्होने और जातियों को भी सन्यास से रोका किंतु उनकी चली नहीं। ब्राह्मणों के ग्रंथो मे लिखा मिलता है कि आश्रमधर्म का पालन होता था किंतु वे सत्य बात नहीं कहते, जैसा उनकी बुद्धि में होना चाहिए वैसा कहते हैं। (आश्रमधर्म बौद्धो से बहुत पूर्व बन चुका था, आश्रम की कैदो से बचने के लिये ही तो बौद्ध परिव्राजको ने सुगम उपाय निकालकर ब्राह्मण भिक्षुओं का अनुकरण किया था।) कनिष्क के उत्तर-कोशल, मगध, वत्स, अवंती ये तो मुख्य राज्य थे, बाकी उत्तर

भारत मे कुल १६ छोटे-छोटे राज्य थे, जिनमें परस्पर सबध और विग्रह होते रहते थे और कहीं कहीं प्रजातत्र भी था। आर्यों का आगमन पजाब से गगा के किनारे किनारे हुआ किंतु सिधु के किनारे उज्जैन तक और तराई में होकर तिरहुत तक भी आर्यों की गति हुई थी। दाक्षिणात्य में बहुत कम आर्य थे। पहाडी आर्य धर्म और शासन मे स्वतंत्र प्रकृति के थे और अनार्यों मे भी शांति और सामाजिक बधन विद्यमान थे। ग्राम-गोष्ठ या ग्राम-संघ ही हिंदुओं की प्रधान चाल थी। गाँव की चरागाह सर्व साधारण की सपत्ति थी और सिँचाई भी मिलकर होतीं थी। गाँव से वाहर जमींन बेची वा रेहन नही की जाती थी। स्त्रियों की भूषण आदि ही संपत्ति थी और माता से दायभाग भी मिलता था। सहभोजन और सहविवाह के नियम दृढ थे (अर्थात् जातिवधन था)। राजा, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चांडाल, पुक्कस यों जातिभेद था। कई क्षत्रिय अनार्य भी थे। जातियों मे भेद, (आपत्काल होने से) कर्म का परिवर्त्तन भी होता था और उच्च जातियो में अनुलोम प्रतिलोम विवाह होने पर भी सतान ब्राह्मण वा क्षत्रिय ही रहती थी। (हैं!) बुद्ध के सवादो मे जन्माभिमान की निंदा की गई है। (इससे तो जाति दृढ़ हुई।) ब्राह्मणो ने अभी क्षत्रियो से ऊपर होने और भू-देव कहाने की हिमाकत नहीं दिखाई थी। (यह 'हिमाकत' बहुत पहले से थी और बौद्ध-धर्म इसी को तोडना चाहता था।) जाति के लिये कोई शब्द ही नही है। रोमन और ग्रीक लोगों में यदि जाति-भेद होता तो भारतवर्ष मे भी उस समय होता। (वदतोव्याघात—

बौद्ध-धर्म क्या तोड़ना चाहता था? क्या जाति-धर्म बौद्धो के पीछे जम सका?) नगरों में प्राकार होते थे। घरो मे दालान, कोष, अन्नागार, मोरी प्रभृति का पता है। शवदाह के अतिरिक्त उनका वनो मे पक्षियो के भोजनार्थ त्याग भी होता था। नाव, गाड़ी से व्यापार, किराये की पुलिस, और ताँबे के प्राइवेट सिक्को से व्यापार भी पाया जाता है। चाँदी के राजनियमित सिक्के न थे (वाह!)। व्यापारी, व्यापार, विज्ञापन और मोहरमात्र मे लेख का प्रयोग, विद्या का कठ से ही पढ़ा पढ़ाया जाना, साधु परिव्राजको के आदर का वर्णन करके 'ईसा की षष्ठ शताब्दी मे भारतवर्ष' का यह चित्र समाप्त होता है।

उन्नतिमत्त पाश्चात्य अपनी दशा को और देशों के इतिहास में पढ़ने का उद्योग करते हैं। यूरोपीय क्लर्जी ने राजाओं पर पीछे प्रभाव डाला और उनके और राजाओ के बीच इस बात पर लड़ाइयाँ हुई, यही बात भारतवर्ष मे ढूँढ़ना चाहते हैं। अपनी छठी शताब्दी की सभ्यता से बढ़कर सभ्यता यहाँ नहीं दिखाना चाहते। और ब्राह्मण तो गालियाँ देने को हैं ही।

——

पुरानी पगड़ी

सस्कृत वैयाकरण लोग पगड़ी के अर्थ मे 'उष्णीष' शब्द लाते हैं जिसका अर्थ 'गर्मी का मारनेवाला' होता है। शब्दार्थ से अवश्य ही यह सिर में लपेटने की चीज होनी चाहिए। यह कई रग की होती होगी, क्योकि जो अभिचार (शत्रुमारण आदि) के यज्ञ हैं उनकी विधि में आता है कि 'ऋत्विज् लोग लाल उष्णीष पहनकर काम करते हैं' (लोहितोष्णीषा ऋत्विज. प्रचरन्ति)। यजुर्वेद (शुक्ल) की संहिता में (३८।३) गौ के बाँधने की रस्सी की प्रशसा में कहा है कि 'तू अदिति का रस्सा है, इद्राणी का उष्णीष है'। इससे सिद्ध हुआ कि स्त्रियो का उष्णीष भी कोई लबी, बाँधने की, लपेटने की चीज होती होगी, ओढ़ने की नहीं। सभव है कि स्त्री पुरुष दोनो का उष्णीष एक सा होता हो, जैसा पुराने ईरानियो के यहाँ होता था। इस मंत्र की व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण मे कहा है 'इद्राणी इंद्र की प्रिय पत्नी है उसका उष्णीष विश्वरूपतम है' (१४. २. १. ८)। राजसूय प्रकरण मे जहाँ अभिषेक और शस्त्रधारण के पहले राजा को वस्त्र पहनाए जाते हैं* वहाँ शरीर से सटा हुआ एक तार्प्य नामक कपड़ा पहनाया जाता है। श्रौतसूत्र और उसके भाष्यो में तार्प्य का अर्थ तृपा नाम के घास का बना हुआ, बुनते समय तीन बार घी या जल पिलाया

* दे०—इस ग्रथ में पृष्ठ ६८-६९। —सपादक।

हुआ वस्त्र, या वल्कल, या तीन बार घी में भिगोया हुआ वस्त्र दिया है। जो हो, उसकी प्रशंसा में लिखा है कि 'तस्मिन् सर्वाणि यज्ञरूपाणि निष्यूतानि भवन्ति' (शतपथ, ५-३-५-२०) जिसका अर्थ इसके सिवा कुछ नहीं हो सकता कि उस पर सब यज्ञ की तसवीरें, वा यज्ञपात्र, वेदि आदि की तसवीरें सुई से काढ़ी हुई होती हैं। इसके स्वारस्य से इंद्राणी के उष्णीष के विशेषण 'विश्वरूपतम' का यही अर्थ करना पड़ेगा कि सबसे अच्छे चित्रोवाला, सबसे अच्छे कसीदेवाला, सबसे बड़ी सुंदरतावाला। यह नहीं कह सकते कि वह पंजाबिनो के साळू की तरह पूरा कसीदे का बना हुआ होता था, या राजपूताने की लूगड़ी की तरह रंग-बिरंगा।

जो हो, राजसूय में तार्प्य पहनाए पीछे एक पांड्व पहनाया जाता था जिसका अर्थ बिना रँगी ऊन का कंबल होता है। तीसरा कपड़ा अधीवास या सब कुछ ढकनेवाला लंबा चोगा है। चौथा वस्त्र हमारा पहचाना हुआ मित्र उष्णीष है। इसे सिर पर लपेटकर दोनो छोर आगे की ओर लटकाकर धोती की मोरी मे दोनों ओर खोंस लिए जाते थे, या नाभि के पास ही खोंसे जाते थे। (कात्यायन श्रौतसूत्र १५-५-१३, १४) इस प्रकरण के ब्राह्मण का अनुवाद यह है—"फिर उष्णीष को समेटकर आगे इकट्ठा करता है, इस मन्त्र से कि 'तू क्षत्र की नाभि है'; इससे जो क्षत्र की नाभि है उसे ही यो इसमें (यजमान में) धरता है। कुछ लोग सब ओर लपेटते हैं, यह कहते हुए कि यह इसकी नाभि है, सब तरफ

ही यह नाभि जाती है, सो ऐसा नहीं करना चाहिए, आगे ही इकट्ठा करे, आगे ही तो नाभि होती है" (शतपथ ५, ३, ५, २३-२४)। इससे जान पडता है कि उस समय भी पगडी लपेटने की दो चालें थीं, परंतु दोनो सिरे कमर तक अवश्य लाए जाते थे।

किरीट शब्द भी सिर के ढकने की चीज के अर्थ में आता है। यह वैयाकरण पाणिनि से पुराना है, क्योंकि उसने उसे अर्धर्चादि गण (२।४३१) में पढ़ा है। यदि यह सदेह किया जाय कि गणपाठ में शब्द समय समय पर बढ़ाए गए हैं तो उणादि सूत्र ४।१८४ ('कृतॄकृपिभ्य कीटन्') से यह शब्द बनता है जिसमें न्यासकार के मत से 'तिरीट'वाला 'तॄ' धातु भले पीछे जोडा गया हो तो भी किरीट का कॄ तो पुराना मानना पड़ेगा। उणादि सूत्र पाणिनि से पहले के हैं। मुकुट शब्द इतना पुराना नहीं है।

हिदुस्तान में सबसे पुरानी मूर्तियाँ जो कही मिली हैं वे भरहुत के स्तूप की भित्तियो पर हैं। उनका समय ईसा से पहल तीसरी शताब्दी माना गया है। वहाँ के चित्रो में पुरुष वहुत सु दर साफा वॉधे हुए वनाए गए हैं। विशेप करके कनिघम के ग्र थ 'स्तूप आफ भरहुत' के प्लेट २१ के चित्र ३ मे नागराज चक्रवाक और प्लेट २४ के चित्र २ और ३ देखिए। इनमे साफा या फैंटा वहुत सु दर लपेटों से वाँधा गया है और सामने एक मुरेठा या गेंद सी वनाई गई है। यदि श्रौतसूत्र में साफ न कहा गया होता तो इन चित्रो को देखकर शतपथ ब्राह्मण के 'आगे समेटकर इकट्ठा' करने का अर्थ ऐसा मुरेठा वनाना ही समझ में आता। उस

समय स्त्रियो का वेश कैसा था यह उसी के प्लेट २३ मे सिरीमा देवता के चित्र से जान पड़ेगा। इसमें एक छोटा रुमाल सिर पर लपेटा हुआ है। वैाद्ध जातक ग्रंथो में लिखा है कि धनवानों की सुंदर सुंदर पगड़ियाँ सजाना और बनाना नाइयो का काम था।

चीनी यात्री हुएन्सांग, जो हिंदुस्तान मे ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के पिछले भाग में आया था, यहाँ के लोगो के बारे में लिखता है कि लोग सिर पर टोपी या मुकुट पहनते हैं और उनके साथ फूलो की माला या जड़ाऊ सरपेच। व्रात्यों की टेढ़ी पगड़ी के लिये देखिए पत्रिका, भाग १, पृ० ७६, ७७ में मेरी टिप्पणी*।

---

* दे०—इस ग्रथ के पृष्ठ १८५ में 'तिर्यद्द्नद्धमुष्णीषम्' । —सपादक ।

खसों के हाथ में ध्रुवस्वामिनी

एक ही श्लोकमय काव्य को, जिसका बीज किसी पुरानी कथा या घटना से लिया गया हो, कथोत्थ मुक्तक कहते हैं। इसके उदाहरण में राजशेखर की काव्यमीमासा[1] में यह श्लोक दिया है—

दत्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं
यस्मात् खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणत्किन्नरे
गीयन्ते तव कार्तिकेयनगरस्त्रीणा गणैः कीर्तय. ॥

कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा में चाटु कह रहा है। जिस हिमालय में चाल रुक जाने पर अपनी देवी ध्रुवस्वामिनी को खसो के राजा को सौंपकर खडितसाहस होकर श्रीशर्म (?) गुप्त लौट आया, वहीं पर आपकी कीर्ति गाई जा रही है। यह तो उस अज्ञात राजा की वडाई हुई कि जहाँ पर श्रीशर्मगुप्त के से पराक्रमी राजा को खसो से हार, चौकडी भूल, अपनी रानी उनके हाथ में सौंप, चला आना पडा था वहीं आपकी कीर्ति गाई जा रही है। यह श्लोक वैसा ही है कि जैसा भास के नाटक मे रावण को सूचना दी जाती है कि जिस अशोकवाटिका मे सँवारने सिगारने के चाववाली मदोदरी महारानी भी पत्ते नहीं तोडती वहीं वानर (हनुमान्) ने तोड-मरोड डाली है। एक में हिमालय की

१—गायकवाड ओरिएटल सीरीज, न० १। (पृ० ४७—सपादक।)

अतिशय दुर्जयता और दूसरे में अशोकवाटिका की रावण को अतिशय प्रियता दिखाकर पहले में राजा के प्रताप की और दूसरे में वानर के अपराध की अधिकता बताई है।

किंतु यह श्लोक जिस कथा से उत्थ (निकला) है वह ध्यान देने योग्य है। काव्यमीमांसा एक ही पुस्तक से छापी गई है। श्री-शर्मगुप्त कोई अशुद्ध पाठांतर हो तो पता नहीं। गुप्त महाराजाओं के वंश मे एक प्रसिद्ध ध्रुवदेवी वा ध्रुवस्वामिनी हुई है जो चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य की स्त्री तथा कुमारगुप्त (प्रथम) की माता थी। और किसी ध्रुवस्वामिनी का उस वंश मे पता नहीं चलता। न कहीं पुराने या पिछले गुप्तों मे शर्मगुप्त नाम मिलता है। यदि शर्मगुप्त चंद्रगुप्त के लिये लेखक-प्रमाद हो तो बंध बैठ जाता है, नहीं तो कोई शर्मगुप्त और उसकी रानी ध्रुवस्वामिनी ये दो कल्पनाएँ करनी पड़ेंगी। कथा सच्ची है, नहीं तो कथोत्थ मुक्तक का उदाहरण यह कैसे दिया जाता? ध्रुवस्वामिनी का नाम प्रसिद्ध है, उसके पुत्र की मुद्रा भी मिली है। चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य बड़ा प्रतापी और विजेता हुआ। वह उत्तर की ओर खसो से हारा ही नहीं किंतु खसो के राजा के हाथ अपनी महारानी को बंदी छोडकर लौट आया यह बात यदि सच्ची भी हो तो भी गुप्तों के लेखों मे नहीं मिलने की। ऐसे ही किसी श्लोक मे उसकी परंपरागत चर्चा मिले तो मिले। चीन के खस बडे पराक्रमी थे। कई बार नेपाल के मार्ग से आकर उन्होने हमले किए तथा पिछले गुप्त राजाओ का बल क्षय किया। सभव है कि चंद्रगुप्त की उनसे टक्कर हुई हो

और चद्रगुप्त ने फिर कुबेर की दिशा में बढ़ने से हाथ खैंच लिया हो, जैसे कि थानेश्वर के हर्षवर्धन ने और सब देशो को जीत नर्मदा-तट पर पुलकेशी (द्वितीय) से हार खाई और दक्षिण में राज्य फैलाने का विचार छोड दिया। बडे विजेताओं की हार की सूचना उनके वश के लेखों में कभी नहीं मिल सकती। राजशेखर के समय (नवीं शताब्दी ईसवी) में यह कथा प्रसिद्ध थी कि कोई गुप्त राजा (शर्मगुप्त या चद्रगुप्त ?) अपनी देवी ध्रुवस्वामिनी को खसों के राजा को देकर हारकर उत्तर से लौटा।*

———

* काव्यमीमासा के उपर्युक्त श्लोक में, हमारी समझ में, 'शर्मगुप्तो' नहीं, 'रामगुप्तो' पाठ होना चाहिए। क्योकि इतिहास में अब यह बात सिद्ध है कि समुद्रगुप्त का उत्तराधिकार उसके मत्रियो ने उसके बड़े बेटे रामगुप्त को दिया। उसे अशक्त जानकर कुशान-वशी राजा ने गुप्त-साम्राज्य पर चढाई की। हिमालय की बाह्य शृखला के एक गढ में रामगुप्त 'रुद्धगति' हुआ और अपनी रानी ध्रुवदेवी या ध्रुवस्वामिनी को शत्रु की भेंट कर वह मुक्त हुआ। उसके छोटे भाई चद्रगुप्त ने शत्रु को उसके गढ में ही परास्त कर इस अपमान का शोधन किया। इसके बाद रामगुप्त का अत हुआ और चद्रगुप्त सम्राट् हुआ। ध्रुवस्वामिनी ने अपने उद्धारकर्त्ता का वरण किया। इस पुनर्लग्न से देवी ध्रुवस्वामिनी चद्रगुप्त विक्रमादित्य की पत्नी हुई। (दे० — श्री जयचद्र विद्यालकार-कृत इतिहास-प्रवेश पृ० १५०-५१, श्री जयशकर 'प्रसाद' कृत ध्रुवस्वामिनी की 'सूचना'।) —सपादक।

पश्चिमी क्षत्रपों के नामों में घ्स,य्स = ज़ (Z)

पश्चिमी क्षत्रप राजाओं के घ्समोटिक, दमघ्सद आदि नामो में 'घ्स' युक्ताक्षर पढ़ा जाता था। सन् १९१३ में जर्मन विद्वान् डा० ल्यूडर्स ने स्थिर किया कि यह 'घ्स' नहीं 'य्स' है और दमघ्सद का नाम दमज़द भी लिखा मिलता है। इसलिये यह य्स (घ्स नहीं) ग्रीक केज़ेड् (ज़) के लिये भारतवासियों का संकेतित चिह्न था। माडर्न रिव्यू (जून १९२१) का कथन है कि सन् १९१३ के एक जर्मन पत्र में डाक्टर ल्यूडर्स ने यह छपवाया और ता० २१ फरवरी सन् १९१३ को इस खोज की सूचना का पत्र शार्लाटनबर्ग से मि० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर को लिखा। किंतु सन् १९१५ की पश्चिमी मंडल की पुरातत्त्व विभाग की खोज की रिपोर्ट में मि० भंडारकर ने इसे अपनी मौलिक खोज की तरह छापा और ल्यूडर्स का उल्लेख भी न किया। माडर्न रिव्यू में ल्यूडर्स और भंडारकर के उन लेखों के फोटो भी छपे हैं। पीछे इस विषय पर बहुत वितंडा हुई, यह सिद्ध करने का यत्न किया गया कि यह ल्यूडर्स की मौलिक खोज नहीं है, कई वर्ष पहले डाक्टर भाऊ दाजी ही ऐसा लिख गए थे। किंतु भंडारकर के उसे अपनाने का अपलाप न हो सका।

——

हूण

पराक्रमी हूणों का स्मरण अभी तक कई प्रकार से चला आता है। हरियाना प्रांत में जब कोई मनुष्य किसी दूसरे से भिड़ते हुए झिझकता है तो उसे हिम्मत बढ़ाने के लिये कहा जाता है 'अरे, यह क्या कोई हून है ?' कोई बहुत गाल बजाता है तो भी कहते हैं, 'बड़ा कहीं का हून आया !' राजपूताने की ऐतिहासिक दंतकथाओं में कई उच्छृंखल 'हूल' वीरो की कथाएँ हैं जो दुर्गम घाटों में रहते और व्यापारी, यात्रियों आदि से लूट उगाहते थे। दक्षिण में एक सिक्का 'हुन' नामक था जो अभी अभी तक चलता रहा। राजपूतो के छत्तीस कुलो मे एक 'हूण' भी है। इतिहास में कई प्रतिष्ठित और परिज्ञात राजाओं का हूण-कन्याओं से विवाह हुआ लिखा मिलता है। मेवाड के राना अल्लट (वि० स० १०१०) की रानी हरियादेवी हूण-कुल की थी। त्रिपुरी (तेवर, चेदि-मडल) के कलचुरि(हैहय)वशी राजा कर्णदेव की स्त्री आवल्ल-देवी हूण-कुल की थी जिसका पुत्र यश कर्णदेव था (अजनि कलचुरीणा स्वामिना तेन हूणान्वयजलनिधिलक्ष्म्या श्रीमहावल्ल-देव्याम । . श्रीयश कर्णदेव , एपि० इडि० जि० २, ३–५ यशः-कर्ण के पुत्र गयकर्ण की प्रशस्ति)।

———

कादंबरी के उत्तरार्ध का कर्त्ता

प्रसिद्ध कादंबरी का पूर्व भाग ही रचकर महाकवि वाणभट्ट का स्वर्गवास हो गया और उस अद्वितीय कथा का उत्तरार्ध वाण के पुत्र ने पूरा किया। उसने 'सुदुर्घट' कथा के परिशेष की सिद्धि के लिये अर्धनारीश्वर को प्रणाम किया है, पिता के अधूरे काम को पूरा करने के लिये (अपना कवित्वदर्प दिखाने के लिये नहीं) ही अपना उद्योग वताया है, और शालीनता से कहा है कि पिता के वोए वीजो की फसल ही मैं इकट्ठी कर रहा हूँ। इस पितृभक्त और पितृतुल्य कवि का नाम क्या था इस पर पुराने विद्वानों ने लक्ष्य नहीं दिया। उन्हें आम खाने से काम था, गुठलियाँ गिनने से नहीं। नैयायिक तो इस वहस में सतुष्ट रहे कि मगलाचरण होते हुए भी कादंवरी की पूर्ति मे विघ्न क्यों हुआ और टीकाकार केवल शब्दो के अर्थो और अलंकारों में लगे रहे। कादंवरी का विख्यात टीकाकार भानुचंद्र अकवर के समय में हुआ। उस समय तक साहित्यिक प्रवादो की शृंखला का उच्छेद हो चुका था। अर्थ का समझना केवल कोश व्याकरण से नहीं होता, साहित्यिक समय (संकेत) की शृंखला के ज्ञान से होता है। कादंवरी मे चलते ही वाण के एक पूर्व पुरुप के लिये कहा गया है—'अनेकगुप्तार्चितपादपङ्कजः'। टीकाकार चट इसका अर्थ करता है—अनेक वैश्यो से पूजित। आगे वाण के गुरु

भश्चु की प्रशंसा में कहा है कि उसके चरणों को मुकुटधारी मौखरी प्रणाम करते थे। यहाँ तो भानुचंद्र समझ गया कि मौखरी राजाओं से अभिप्राय है किंतु वहाँ न समझ सका कि प्रसिद्ध गुप्तवंशी महाराजाओं से तात्पर्य है, सेठों से नहीं। क्योंकि भानुचंद्र स्वयं जैन वैश्य था और उस समय वैश्यों का गुरु होना, आज-कल की तरह, बड़ी बात थी। गुप्त नामक सम्राट् वंश भी था यह भानुचंद्र को पता न रहा होगा।

अस्तु। पुस्तक-लेखकों के संकेत में इस बाणतनय का नाम सुरक्षित रह गया। डाक्टर स्टाइन की कश्मीर की हस्तलिखित पुस्तकों के सूचीपत्र में कादंबरी के उत्तरार्ध के कर्त्ता का नाम पुलिन दिया है[1]। नाथद्वारे में एक हस्तलिखित पोथी में बाण के पुत्र का नाम पुलिंद दिया है[2] और विक्टोरिया हाल म्यूजियम, उदयपुर, में एक कादंबरी की पोथी है उसमें भी पुलिंद नाम ही है[2]। यह श्रीधर रा० भंडारकर को पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने बतलाया था। अतएव कादंबरी के पूर्वार्ध का कर्ता बाण है, उत्तरार्ध का रचयिता उसका पुत्र पुलिंद वा पुलिन था।

——

१—स्टाइन्स मैनुस्क्रिप्ट्स, पृ० २९९।

२—श्रीधर रा० भंडारकर, दूसरे दौरे की रिपोर्ट, पृ० ३९।

कादंबरी और दशकुमारचरित के उत्तरार्ध

पहले एक लेख मे (पत्रिका भाग १, पृ० २३५-३७)* कादंबरी के उत्तरार्ध के कर्ता, बाण के पुत्र, पुलिंद्भट्ट के विषय में लिखा जा चुका है। बूलर ने उसका नाम भूषणभट्ट लिखा है किंतु कोई प्रमाण नहीं दिया। उस लेख मे डाक्टर स्टाइन के अनुसार जिस कश्मीर की पुस्तक का हवाला दिया है वह शारदाक्षरो मे भूर्जपत्र पर लिखी हुई है और उसका लेख-काल शक संवत् १५६९ (ई० १६४७) है। सूक्तिमुक्तावलि मे धनपाल कवि कृत एक श्लोक विशिष्ट-कवि-प्रशंसा में है जिसमे बाण और पुलिंद का नाम साथ देकर श्लेष से दिखाया है कि बाण की कादंबरी का 'संधान' पुलिंद ने किया—

केवलोऽपि स्फुरन् बाणः करोति विमदान् कवीन्।
किंपुनः क्लृप्तसंधानपुलिंदकृतसन्निधिः॥

जम्मू के पुस्तकालय में, स्टाइन की सूची के अनुसार, एक दशकुमारचरित की पोथी भूर्जपत्र पर संवत् १८३३ की लिखी हुई है, जिससे जाना जाता है कि दशकुमारचरित का शेषांश (उत्तर-पीठिका) पद्मनाभ ने पूर्ण किया था। संभव है कि वह भी दंडी का पुत्र हो क्योंकि दूसरी एक प्रति के वर्णन मे यह संवेदन दिया है 'अत्र दंडिन एव कर्तृत्वं न तु तत्पुत्रस्य'।

——

* दे०—इस ग्रंथ में पिछला लेख।—संपादक।

तुतातित = कुमारिल

पीटर्सन् की किसी रिपोर्ट में एक श्लोक उद्धृत है जिसमें "तौतातित मत" का उल्लेख है। मङ्ख कवि (ई० स० बारहवीं सदी का पूर्वार्द्ध) के श्रीकण्ठचरित में तुतातित पद कुमारिल के लिये आया है।[१] टीकाकार जोनराज ने उसका अर्थ कुमारिल किया है और कहा है कि बडों का नाम ज्यों का त्यों नहीं लेना चाहिए।[२] इसलिये प्रसिद्ध मीमांसक आचार्य के लिये कुमारिल की जगह तुतातित कहा गया। कोई पूछे कि यदि बडों का नाम लेना ही न चाहिए तो तुमने क्यों लिया? तो टीकाकार कहता है कि व्याख्यान में तो लेना ही उचित है नहीं तो व्याख्यान ही न हो सकेगा।[३]

१—दृढोऽपि तर्ककार्कश्ये प्रगल्भः कविकर्मणि।

य श्रीतुतातितस्येव पुनर्जन्मान्तरग्रहः॥

त श्रीत्रैलोक्यमालोक्य ..(श्रीकण्ठचरित, २५। ६५-६६)

२—यह नाम न लेने की वही रीति है जिससे हिंदुस्तान में, आज-कल भी, देवकीनंदन नामक पुरुष की स्त्री देवकीनंदन के मंदिर को 'चंपो के चाचा' का मंदिर कह देती है और रामचंद्र की स्त्री चंद्रमा को 'नंदा' या 'रातवाला' कहती है।

३—तुतातितः कुमारिलः। स हि तार्किकः कविश्चासीत्। महता सम्यङ्नामग्रहणमयुक्तमिति तुतातितशब्दः प्रयुक्तः। विवरणावसरे युक्तः। अन्यथा विवरणत्वाभावप्रसङ्गात् (?)

दार्शनिक ग्रंथों में कई जगह "इति तौता:" लिखा हुआ मिलता है जिसका अभिप्राय, सदर्भ से जान पड़ता है कि, कुमारिल के मतानुयायियो से ही है। आफ्रेक्ट के आक्सफर्ड के सस्कृत पुस्तकों के सूचीपत्र, 'कैटलागम् कोडिकम् संस्कृतिकोरम्' के पृष्ठ २४६ पर सर्वदर्शनसंग्रह के वर्णन में 'तौतातिता' (अर्थात् कौमारिला:)' लिखा है। उसकी पादटीका में संक्षेप शंकरदिग्विजय में से दशम अध्याय के ये दो श्लोक उद्धृत किए हैं—

वाणी काणभुजी न चैव गणिता लीना क्वचित् कापिली
शैव चाशिवभावमेति भजते गर्हापद चार्हतम् ।
दौर्गं दुर्गतिमश्नुते भुवि जनः पुष्णाति को वैष्णवं
निष्णातेषु यतीशसूक्तिषु कथाकेलीकृतासूक्तिषु ॥ ११८ ॥
तथागतकथा गता तदनुयायि नैयायिक
वचोऽजनि न चोदितो वदति जातु तौतातित. ॥
विदग्धति न दग्धधीर्विदितचापल कापिल
विनिर्दयविनिर्दलद्विमतिसंकरे शंकरे ॥ ११९ ॥

आफ्रेक्ट ने लिखा है कि 'किं वृत्तांतै: परगृहगतै.' इत्यादि श्लोक, जो शार्ङ्गधरपद्धति और सुभाषितावलि में मातंगदिवाकर के नाम से दिया है, सदुक्तिकर्णामृत मे 'तुतातित' का कहा गया है।

न्यायघंटा

राजतरगिणी में राजा हर्ष (ई० स० १०८९-११०१) के वर्णन में लिखा है कि उसने अपने महल के सिंहद्वार पर चारो ओर बड़े बडे चार घटे बँधवा दिए जिससे उनके बजने से वह विज्ञप्ति (प्रार्थना) करना चाहनेवालो का आना जान जाय। जानकर तथा उनकी दुखिया बानी सुनकर वह उनकी तृष्णा ऐसे हटाता जैसे बरसाती मेघ चातको की ।[१]

प्रबधचिंतामणि मे एक कथा है कि चौड (=? चोड, चोल, या गौड) देश में गोवर्धन नामक राजा के यहाँ सभामंडप के सामने लोहे के स्तभ पर न्यायघटा था जिसे न्याय चाहनेवाला वजा दिया करता। एक समय उसके एकमात्र पुत्र ने रथ पर चढकर जाते समय जान-बूझकर एक बछडे को कुचल दिया। बछड़े की माता (गौ) ने सींग अडाकर घटी वजा दी। राजा ने सब हाल पूछकर अपने न्याय को परम कोटि पर पहुँचाना चाहा। दूसरे दिन सवेरे स्वय रथ पर बैठ राह मे अपने प्यारे इकलौते पुत्र को लिटाकर उस पर रथ चलाया और गौ को दिखा दिया। राजा के सत्त्व और कुमार के भाग्य से कुमार मरा नहीं।[२]

१—राजतरगिणी ७।८७९—८०।

२—प्रबधचिंतामणि पृ० २८५।

जिनमंडनगणि ने कुमारपाल प्रबंध में लिखा है कि कुमारपाल ने राजसिंह द्वार पर न्यायघंटे बँधवाए थे[१]।

अमीर खुसरो अपने नुह सिपिह्र अर्थात् नवचक्र नामक फारसी ग्रंथ में जो कुतुबुद्दीन मुबारक शाह (तख्तनशीनी सन् हिजरी ७१६, ई० १३१६ ई०) के समय मे बना था लिखता है कि मैंने यह कथा सुनी है कि दिल्ली मे पाँच या छे सौ वर्ष पहले अनंगपाल नामी एक बड़ा राय था। उसके महल के द्वार पर पत्थर के दो सिंह थे। इन सिंहो के पास उसने एक घंटी लगवाई कि जो न्याय चाहें उसे बजा दें जिस पर राय उन्हे बुलाता, पुकार सुनता और न्याय करता। एक दिन एक कौआ आकर घंटी पर बैठा और घंटी बजाने लगा। राय ने पूछा कि इसकी क्या पुकार है। यह बात अनजानी नहीं है कि कौए सिंह के दाँतों मे से मांस निकाल लिया करते है। पत्थर के सिंह शिकार नहीं करते तो कौए को अपनी नित्य जीविका कहाँ से मिले? राय को निश्चय हुआ कि कौए की भूख की पुकार सच्ची है, क्योकि वह उसके पत्थर के सिंहों के पास आन बैठा था। राय ने आज्ञा दी कि कई भेड़े बकरे मारे जायँ जिससे कौए को कई दिन का भोजन मिल जाय।[२]

१—आत्मानंद सभा का संस्करण, पृ० ६० (२)

२—इलियट, जिल्द ३, पृ० ५६५। महाभारत में कुलिंगशकुनि, कलिंगशकुनि या भूलिंगशकुनि (भू पक्षी) का दृष्टांत कई

इब्नबतूता सुलतान अलतमश के वर्णन में लिखता है कि उसने आज्ञा दी कि जिस किसी पर अन्याय हुआ हो वह रंगीन कपड़े पहना करे। इस देश में लोग सफेद कपड़े पहनते हैं। इससे जब सुलतान का दरबार होता या वह बाहर जाता और किसी को रंगीन कपडे पहने देखता तो उसकी पूछ-ताछ करता और सतानेवाले से उसे न्याय दिलवाता। किंतु सुलतान इस उपाय से प्रसन्न नहीं हुआ। सोचा कि कुछ लोगों पर रात को अन्याय होता है, मैं उनका भी निस्तार करना चाहता हूँ। इसलिए उसने दरवाजे पर दो संगमर्मर के सिंह ऊँची चौकियों पर स्थापित किए। इनके गले में एक जंजीर थी जिसमें एक बड़ा घंटा लटक रहा था। अन्याय के सताए रात को आकर घंटा बजाते, सुलतान सुनकर झट पूछ-ताछ करता और पुकारू को संतुष्ट करता[1]।

सुलैमान सौदागर जो भारत और चीन में पहला मुसलमान यात्री था, और जिसकी यात्रा का विवरण हिजरी सन् २३८ (ई०

जगह दिया है कि वह कहा तो करता है, 'मा साहस, मा साहस'—साहस मत करो, किंतु स्वयं इतना साहस करता है कि शेर की दाढ में से मांस के टुकड़े निकालकर खाता है। 'पर उपदेश कुशल' लोगों पर इस पक्षी का दृष्टांत दिया है 'न गाथा गाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति। प्रकृतिं यान्ति भूतानि कुलिङ्गशकुनिर्यथा'। हेमचंद्र ने परिशिष्ट पर्व में इसे 'मासाहसपक्षी' कहा है।

१—इलियट, जिल्द २ पृ० ५९१।

स० ८५१) के समीप का है, चीन के वर्णन में लिखता है—हर एक शहर में एक छोटी घंटी होती है जो राजा के या शासक के (बैठने के स्थान में) सिर पर दीवाल के बँधी होती है। इसके बजाने के लिये लगभग तीन मील लबी डोर बाजार पर से जाती है कि लोग उसे पहुँच सकें। जब डोरी खिचती है तब शासक के सिर पर घटी बजती है और वह झटपट आज्ञा देता है कि जो मनुष्य यों न्याय के लिये पुकार रहा है वह मेरे पास लाया जावे। पुकारू स्वय अपनी दशा और अन्याय का विवरण कहता है। यही चाल सब सूबो में है[1]।

बीकानेर[2] के राजा रायसिह के भाई पृथ्वीराज का हाल सुनने से अकबर के समय में भी ऐसी जंजीर का होना पाया जाता है। पृथ्वीराज ने, जो बड़े कवि थे, यह छप्पय लिखकर गाय के गले में बाँध दिया था—

> अधर धरत त्रिण मुख्य ताहि कोऊ नहिं मारत।
> सो हम निस दिन चरत बैन दुरबल उच्चारत॥
> सदा खीर घृत भरत मोर सुत पृथ्वी बसावत।
> कहा तुरकन को कटु कहा हिंदुन मधु पावत॥
> हम नगार पनही हमहि गलो कटावत हम दिए।
> पुकार अकब्बर साह सो कहा खून हमने किए॥

१—रेनादो का अनुवाद; सन् १७२३ का छपा, पृ० २५।

२—यहाँ से लेख के अंत तक का विषय मुंशी देवीप्रसाद जी की कृपा से प्राप्त हुआ है।

वह फिरती फिरती बादशाह के महल के नीचे आकर स्वभाव से अदालत की जजीर से सिर मारने लगी और घटे बजने लगे। बादशाह फरियादी का आना जान निकल आए और कागज पढ़कर उन्हें ऐसी करुणा आई कि गोवध की मनाई कर दी गई।

पूरब के कवि इसी छप्पय के शब्दों मे कुछ फेर-बदल कर इसे नरहरि कवि की रचना कहते हैं जो उसने गाय के सींगों से बाँध दी थी।

सम्राट् जहाँगीर की जजीर अदालत का प्रमाण तुजुक जहाँगीरी से मिलता है। वहाँ जहाँगीर लिखता है[१] कि तख्त पर बैठते ही पहला हुक्म जो मैंने दिया वह इनसाफ की जजीर बाँधने का था; जो अदालत के मुत्सद्दी जुल्म से सताए हुए लोगों की फरियाद को पहुँचाने और जाँच करने मे सुस्ती और ढील करें तो वे लोग इस जजीर को हिला दें जिससे खबर हो जावे और वह इस तौर पर बनाई गई कि मैंने हुक्म दिया कि ४ (ईरान के ३२) मन खरे सोने की ३० गज लबी जजीर बनावें जिसमे ६० घटे लगे हो, उसका एक सिरा तो किले की शाह बुर्ज से लगाया और दूसरा दरिया (यमुना) के किनारे तक ले जाकर एक पत्थर की लाट पर गाडा गया।

हिंदी तारीख चगत्ता मे जो जयपुरी बोली में जयपुर के महाराज माधोसिंहजी (पहले) की आज्ञा से बनाई गई थी और

१—जिल्द १ पृ० ५।

जिसकी प्रति टोंक के पंडित रामकर्ण जी के पास थी, मुंशी देवी-प्रसाद जी ने जहाँगीर के इनसाफ की यह कथा पढ़ी थी। एक गाय ने जंजीर हिलाई और बादशाह ने उसे देखकर साथ में एक सिपाही कर दिया। गाय सिपाही को एक पठान के घर ले गई जिसने कि उसका बछड़ा मार डाला था। सिपाही पठान को बादशाह के पास ले आया। बादशाह ने उसके हाथ पाँव बँधवाकर उसे गाय के सामने डलवा दिया और गाय ने उसे सींगो से मार डाला।

शायद उसी किताब में यह कथा भी है कि एक बार एक ऊँट ने जंजीर हिलाकर घंटी बजा दी। बादशाह ने उसकी पीठ छिली हुई और लोहू-लुहान देखकर ऊँटवाले से कहा कि अगर अब छः मन से ज्यादा बोझ लादा तो सजा मिलेगी और उस दिन से ऊँट पर छः मन से ज्यादा बोझ न लादने का कानून बन गया।

———

पंच महाशब्द

(१)

गोसाइ तुलसीदासजी के रामचरितमानस मे, बालकाड मे, राम की बरात के जनक के द्वार पर पहुँचने के वर्णन में लिखा है कि—

पच सबद सुनि मंगल गाना।
पट पाँवडे परहि विधि नाना॥

यहाँ पर साधारण लोग तो, 'पच सबद' का अर्थ पाँच मगल गीत, या पाँच देवताओं के स्तोत्र, या पाॅच मंगल बाजे करते हैं किंतु काशीनरेश की अनुमति से बनाई हुई रामचरितमानस की एक टीका में लिखा है कि—

तत्रीं, ताल, सुझाँझ पुनि जानु नगारा चार।
पचम फूॅके से बजे पाँच शब्द परकार॥

कनडी भाषा के ग्रंथ विवेकचिंतामणि मे लिगायत ग्रथकार ने पचमहाशब्द के बाजो के नाम यो गिनाए हैं—शृ ग, तमट, शख, भेरी और जयघटा[१]।

प्राचीन शिलालेख और ताम्रपत्रो मे स्वतत्र राजाओ, सामतो, मडलेश्वरों और कभी कभी राज्य के बड़े अधिकारियो के नाम के साथ 'समधिगतपचमहाशब्दः' यह उपाधि मिलती है। कहीं कहीं

१—इडि० एटि० जिल्द १२, पृ० ९६।

जिस अधीश्वर की कृपा से पंचमहाशब्द मिले हो उसका नाम भी दिया होता है, जैसे 'श्रीमहेंद्रायुधपादाप्तावाप्तपंचमहाशब्द' या '(अमुक)—प्रसादावाप्तपंचमहाशब्दः'। इससे जान पड़ता है कि अपने यहाँ पाँच (विशेष) बाजे बजवाना बड़े राजाओ का चिह्न समझा जाता था और सामंत तथा अधिकारी अपने यहाॅ उन्हे तब तक नहीं बजा सकते थे जब तक कि अधिराज प्रसन्न होकर उन्हें पंचमहाशब्द का सम्मान न दे देते थे। यह भी एक प्रकार का रुतबा था जैसे कि मुगल बादशाहों के यहाॅ से माही मरातिब (मछली के झडे का सम्मान) तथा झंडा, डका और तोग[1] का मिलना था। जिन सामतों को यह मिल जाता था वे साभिमान अपने लेखो में अपने नाम के साथ 'समधिगतपंचमहाशब्द' लिखते। सर वाल्टर इलियट का यह अनुमान कि यह महामंडलेश्वर की तरह अधीन सामतो की उपाधि है, स्वतत्र राजाओ की नहीं[2], ठीक नहीं क्योंकि सामंतो को पंचमहाशब्दों का सम्मान देनेवाले स्वतंत्र राजाओ को तो पाँच बाजो का अधिकार था ही, वे अपने नाम के साथ ऐसा क्यो लिखते ? जैसे राजपूताने के बडे राजा अपने जागीरदारो या सेवको को सोना बख्शते अर्थात् पैर में सोना पहनने का मान देते हैं तो जागीरदारो के अपने को 'सोने का कड़ा या लंगर पाए हुए' कहने से यह अर्थ

१—मुशी देवीप्रसाद, खानखानानामा, पृ० ७२।

२—जर्न० रा० ए० सो०, जिल्द ४, पृ० १८३६।

नहीं निकलेगा कि स्वतंत्र राजाओं को पैर में सोना पहनने का अधिकार नहीं है।

श्रीयुत शंकर पांडुरंग पंडित ने 'समधिगतपंचमहाशब्द' का यह अर्थ किया था[१] कि 'जिन्हें महा से आरंभ होनेवाली पाँच उपाधियाँ मिली हों, जैसे महामंडलेश्वर आदि' किंतु वैसी पाँच उपाधियों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। अश्वपति, गजपति, नरपति उपाधियाँ जो शिलालेखों में मिलती हैं तीन ही हैं, पाँच नहीं। संभव है कि अभिज्ञानशाकुंतल के एक श्लोक[२] में 'शब्द' का अर्थ उपाधि या उपनाम देखकर शंकर पंडित ने यह कल्पना की हो।

सर वाल्टर इलियट ने यह भी कल्पना की थी[३] कि दिन में पाँच दफा नौबत का बाजा बजवाने की चाल बड़े गौरव की थी क्योंकि दक्षिण में कई जागीरें नौबत का सम्मान जारी रखने के लिये ही दी गई हैं। फरिश्ता में दो जगह पाँच बार नौबत बजाये जाने का उल्लेख है। एक[४] तो कुलबर्गा के बहमनी शाह मुहम्मद-शाह प्रथम के वर्णन में जो सन् १३५८ ई० में अपने पिता का उत्त-राधिकारी हुआ। दूसरे[५] गोलकुंडा के सुलतान कुली कुतुबशाह के

१—इंडि० एंटि०, जिल्द १, पृ० ८१।

२—अस्यापि द्यां विशति कृतिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः॥

३—इंडि० एंटि०, जिल्द ५, पृ० २५१।

४—ब्रिग्स फरिश्ता, जिल्द २, पृ० २९९।

५—वही, जिल्द ३, पृ० ३२३।

वर्णन मे जो ई० स० १५१२ मे वहमनी राज्य की पराधीनता से छूटकर स्वतंत्र हुआ। दूसरे अवसर पर फरिश्ता ने सुलतान का ईरान से आई हुई (पॉच दफा नौवत वजवाने की) नई चाल चलाने के लिये लोकप्रिय न होना कहा है किंतु लगभग दो सौ वर्ष पहले कुलवर्गा के सुलतान के वैसा करने पर कोई टिप्पणी नहीं की। व्रिग्स ने नौवत का अर्थ नौ प्रकार के वाजों का एक साथ वजना कहा है किंतु फारसी कोशों के अनुसार नौवत एक ही वड़े वाद्य का नाम था। पॉच दफा वजने के विषय में यह लिखा है कि सिकंदर जुल करनैन के समय तक तो नौवत तीन ही दफा वजती थी। उसने चौथी वार वजाया जाना आरंभ किया। एक समय सुलतान संजान अपने शत्रुओ से भाग रहा था। चार नौवत वज चुकी थी। उसने शत्रुओ को यह धोखा देने के लिये कि सुलतान सजान मर गया पॉचवीं नौवत वजवा दी। शत्रु इस चकमे में आ गए। तवसे उसने पॉच नौवत वजवाने की चाल चला दी। नौवत का अथ समय, परिवर्तन, भी होता है। नौवत वजने पर पहरा वदला करता था।

इलियट ने पचमहाशब्द का अर्थ पॉच दफा वाजे वजवाना स्थिर करने के लिये चंद के पृथ्वीराजरासो के १९वें पर्व में पद्मावती के पिता पद्मसेन के वर्णन में से निम्नलिखित छंद का वीम्स का अनुवाद उद्धृत किया किंतु ग्राउज[१] ने तुलसीदास की चौपाई और

१—इंडि० एंटि० जिल्द ५, पृ० ३५४।

उसकी टीका उद्धृत कर पचमहाशब्द का ठीक अर्थ बतलाया और लिखा कि चद का अर्थ सदिग्ध है, वहाँ पाँच स्वरो या बाजों से अभिप्राय है या उनके पाँच बार बजने से यह ठीक नहीं कहा जा सकता।

घन निशान बहु सद्द नाद सुर पच बजत दिन।
दस हजार हय चढ़त हेम नग जटित तिन॥

के० बी० पाठक महाशय[१] ने रेवाकोट्याचार्य नामक जैन ग्रथ-कार से एक अवतरण देकर सिद्ध किया कि पंचमहाशब्द का पाँच बार बाजे बजवाना अर्थ नहीं हो सकता। अतएव वही अर्थ ठीक है जो रामचरितमानस की टीका में दिया है।

(२)

यह लिखा जा चुका है कि पाँच प्रकार के कोई बाजे बजाने का सामान, जो बडे राजा की ओर से छोटे सामत या अधिकारी को मिलता था, वही 'समधिगतपचमहाशब्द' उपाधि से सूचित किया जाता था। वे पाँच बाजे कौन होते थे इसकी परिसख्या मे भेद है। केवल नाम-गणना मिलती है, कोई वैज्ञानिक विभाग नहीं। अमरकोश मे चार तरह के बाजों का उल्लेख है[२]—तत (तना हुआ) जैसे वीणा, सैरध्री, रावणहस्त, किन्नरी आदि, आनद्ध (ठेका बँधा) जैसे मुरज, दर्दुर, करट आदि, सुपिर (छेदवाला)

१—इडि० एटि० जिल्द, १२ पृ० ९६।

२—अमरकोश १।६।४। और क्षीरस्वामी का अमरकोशोद्घाटन, ओक का सस्करण पृ० ३१।

जैसे वंशी आदि; घन (ठोस) जैस कास्यताल आदि। क्षीर-स्वामी की टोका अमरकोशोद्घाटन मे इस प्रसंग की भरत की परिभाषा भी उद्धृत की है। प्रबंधचिंतामणि में एक जगह 'पच-शब्द बजानेवालो को सोना बाँटकर फोड़कर' म्लेच्छो से युद्ध करते समय वलभी के राजा शिलादित्य के घोड़े के चमकाए जाने का उल्लेख है[1]। उसकी अनुवाद की टिप्पणी मे टानी ने प्रोफेसर जेचरे के हवाले से साधु-कीर्ति की शेपसंग्रहनाममाला नामक कोश की पूना की एक हस्तलिखित प्रति से पंचशब्द का यह लक्षण उद्धृत किया है[2] जहॉ बाजों के पॉच वैज्ञानिक विभाग बताने का यत्न किया है—

आहतं अनाहतं दण्डकराहतम्।
वाताहतं कंसालादि कण्ठाद्य पटहादिकम्।
वीणादिकं च भेर्यादि पञ्चशब्दमिदं स्मृतम्॥

यह तो हुआ, किंतु कश्मीर के इतिहास मे पंचमहाशब्द का और ही अर्थ मिलता है जो इससे पुराना है। वहाँ पचमहाशब्द का यही अर्थ होता है कि "पाँच राज्य के अधिकार जिनके नाम के पहले 'महा' शब्द हो।" इस अर्थ मे 'समधिगतपंचमहाशब्द' मंत्रियो, प्रधानों और कामदारो के लिये आ सकता है, सामंत या स्वतत्र राजाओं के लिये नहीं। यद्यपि उनमे से एक महाशब्द राजा

१—शास्त्री का सस्करण, पृ० २७९।

२—टानी का अनुवाद, पृ० २१४।

या रानी के लिये भी आया है। ये पंचमहाशब्द ओहदों या पदों के सूचक थे और वे पाँच प्रकार के बाजों के।

कहते हैं कि पहले कश्मीर का राजप्रबंध इतना अधूरा था कि वहाँ सात ही प्रकृतियाँ (राज्यांग) थीं—धर्माध्यक्ष, धनाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, सेनापति, दूत, पुरोहित और ज्योतिषी। व्यवहार, धन आदि से राज्य की यथावत् वृद्धि नहीं हुई थी इसलिये सामान्य देश की तरह राज्य चलता था। राजा जलौक ने अट्ठारह कर्मस्थान (महकमे) बनाकर युधिष्ठिर की सी स्थिति कर दी[1]। युधिष्ठिर की सी स्थिति कहने का यही अभिप्राय है कि महाभारत, सभापर्व, में जो अट्ठारह 'तीर्थ' या अधिकारी कहे हैं[2] उन सब के अधिकार स्थापित किए।

१—राजतरंगिणी १।११८-१२० मेवाड़ में कमठाण = कर्म-स्थान = इमारत का महकमा।

२—महाभारत, सभापर्व, अध्याय ५, श्लोक ४१ में नारद ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया है कि—

> कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च।
> त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः॥

उसकी टीका में इन तीर्थों का विवरण दिया है—

> मंत्री पुरोहितश्चैव युवराजश्च भूपतिः।
> पञ्चमो द्वारपालश्च षष्ठोन्तर्वेशिकस्तथा॥
> कारागाराधिकारी च द्रव्यसंचयकृत्तथा।
> कृत्याकृत्येषु चार्थाना नवमो विनियोजकः॥

पीछे जब कश्मीर के राजा ललितादित्य मुकुटापीड ने[1] कान्यकुब्ज देश के राजा यशोवर्मा[2] को हराया तब उन दोनो में संधिपत्र लिखा जाने लगा। उसमे लिखा गया कि 'यशोवर्मा और ललितादित्य की संधि'। इस पर ललितादित्य के सांधिविग्रहिक[3] मित्रशर्मा से नहीं रहा गया। उसने आपत्ति की कि पीछे नाम लिखे जाने से विजेता होने पर भी मेरे स्वामी का अपमान होता है। राजा ने इसे बड़ी बात समझी, यद्यपि लंबी लड़ाई से थके हुए सेनापतियो को यह हुज्जत बुरी लगी। राजा ने पहले के

प्रदेष्टा नगराध्यक्षः कार्य्यनिर्माणकृत्तथा।
धर्माध्यक्षः सभाध्यक्षो दण्डपालस्त्रिपञ्चमः॥
षोडशो दुर्गपालश्च तथा राष्ट्रान्तपालकः।
अटवीपालकान्तानि तीर्थान्यष्टादशैव तु॥

१—कल्हण के अनुसार इसका समय ई० स० ७०० से ७३६ तक आता है। इसी ने बादशाह हिउन्त्सग के राज्यकाल में चीन में दूत भेजा था।

२—वाक्पति यशोवर्मा का राजकवि था और उसने गउडवहो में यशोवर्मा की गौड़ राजा पर जीत का वर्णन प्राकृत कविता में किया है। यशोवर्मा (इ-च फान-मो) ने सन् ७३१ में अपने मंत्री सेङ् पो-ता को चीनी दरबार में भेजा था। भवभूति भी इसी के यहाँ था। (राजतरंगिणी ४।१४४)।

३—संधि और विग्रह (मेल और झगड़े) के अधिकारी, फारेन मिनिस्टर।

अट्ठारह कर्मस्थानो के ऊपर और पाँच बनाकर उसे उनका अधिकार दे पंच महाशब्दो का पात्र बनाया[१]। वे पाँच पद ये थे—महाप्रतीहारपीडा[२] (राजा की पेश-गाह मे लोगो की सूचना देना और मिलाना), महासधिविग्रह (इलाके गैर), महाश्वशाला (घुड़साल की प्रधानता), महाभाण्डागार (खजाने की प्रधानता) और महासाधनभाग[३] (प्रधान कार्यकारी)। ये पाँच पद प्रतिष्ठ मात्र ही हैं, वस्तुत अट्ठारह कर्मस्थानो में अतभूर्त हो जाते हैं[४]।

पीछे शाही आदि राजपुरुषो को भी यह पद मिलने लगे[५]। कश्मीर के राजा जयापीड़ ने या तो स्वय 'महाप्रतीहारपीड़ा (ठा ?)धिकार' पाया या अपनी रानी कल्याणदेवी को यह अधिकार दिया[६]। उसी राजा के मत्री जयदत्त ने जयपुर कोह

१—राजतरगिणी ४।१३७ से १४२।

२—पीडा क्या है? प० दुर्गाप्रसादजी ने महाप्रतीहारपीठ (आसन) पद की कल्पना की है जो उचित है।

३—साधनभाग पुलिस हो सकती है।

४—अष्टादशानामुपरि प्राक् सिद्धाना तदुद्भवै·।
कर्मस्थानैः स्थितिः प्राप्ता ततः प्रभृति पञ्चभिः॥

राजतरगिणी ४।१४१।

५—वही, ४।१४३।

६—महाप्रतीहारपीडाधिकार प्रतिपद्य सः। कल्याणदेवी(वीं ?) दाक्षिण्यादक रोदधिकोन्नतिम्॥ राजतरगिणी ४। ४८५, पहला अर्थ प० दुर्गाप्रसाद जी का पाठ है, दूसरा स्टाइन का।

मे मठ बनाया था,[1] जिसे 'पचमहाशब्दभाजन' कहा गया है। राजा चिप्पट जयापीड़ की बाल्यावस्था में उसकी माता जयादेवी के भाइयों मे बड़े उत्पलक ने 'पंचमहाशब्द' ग्रहण किए, और बाकी कर्मस्थान दूसरे मामाओं ने[2]।

१—राजतरगिणी ४।५१२।

२—वही ४।६८०।

अवंतिसुंदरी

अवतिसु दरी राजशेखर की स्त्री थी। स्त्री के वर्णन में पति का वर्णन करना पड़ता है।

राजशेखर ने अपने को 'यायावरीय' अर्थात् यायावर ऋषि के कुल में उत्पन्न कहा है। जहाँ जहाँ काव्यमीमासा में उसने अपना मत पुराने आचार्य्यों से भिन्न दिया है वहाँ अर्थशास्त्र के 'इति कौटिल्य' 'नेति कौटिल्य' के ढग पर 'इति यायावरीय.' 'नेति यायावरीय.' आदि लिखा है। धनपाल ने तिलकमजरी के आरंभ में उसे यायावर कवि कहा है। उदयसु दरी के कर्त्ता सोड्ढल ने भी उसे यायावर कहा है। उसका प्रपितामह अकालजलद महाकवि था। मालूम होता है कि उसका नाम कुछ और था, 'भेकैः कोटरशायिभि —' आदि चमत्कारी श्लोक पर से, जो सुभाषितावलियो मे 'किसी दाक्षिणात्य' के नाम से दिया है और जिसमे अकालजलद पद आया है, उसका यह नाम पडा। ऐसे ही क्रीडाचद्र, चडालचद्र, आदि कवियो के नाम पड़ गए हैं। चेदि देश का भूषण सुरानद, तरल, कविराज आदि प्रसिद्ध कवि भी उसी यायावर कुल मे हुए थे। राजशेखर का पिता दुर्दुक या दुहिक महामत्री था और उसकी माता का नाम शीलवती था।

राजशेखर कन्नौज के राजा महेंद्रपाल का उपाध्याय था और उसके पुत्र महीपाल से भी सम्मानित था। सियोडोनी लेख के

अनुसार महेंद्रपाल विक्रम संवत् ९६० और ९६४ में और महीपाल ९७४ में विद्यमान था। यही राजशेखर का समय है।

राजशेखर ने पहले बालरामायण और बालभारत की रचना की और बालकवि उपनाम पाया। विद्धशालभंजिका (विंधी पुतली) और कर्पूरमंजरी नाटिका (प्राकृत) भी उसकी रचना हैं। पीछे उसने काव्यमीमांसा नामक अपूर्व ग्रंथ बनाया जिसका संस्करण एक ही अधूरी प्रति पर से गायकवाड़-प्राच्य-पुस्तक-माला में निकला है[1]। ऐसे ग्रंथ को खोज निकालने और छापने का प्रभूत यश मि० दलाल, प० अनंतकृष्ण शास्त्री और गायकवाड़ सयाजीराव महाराज को है। हेमचंद्र ने काव्यानुशासनविवेक में राजशेखर के हरविलास काव्य का उल्लेख करके उसमें से दो श्लोक उद्धृत किए हैं। , उज्ज्वलदत्त ने उणादिसूत्र-टीका में भी हरविलास का एक आधा श्लोक उद्धृत किया है। यह हरविलास महाकाव्य अभी नहीं मिला। संभव है कि सूक्तिमुक्तावली मे जो कई कवियों की प्रशसा के श्लोक दिए हैं, वे इसी काव्य के उपक्रम के हों अथवा काव्यमीमांसा के अनुपलब्ध अंश में से हों।

काव्यमीमासा में भुवनकोश नामक भूगोल विषयक बड़े ग्रंथ की रचना का भी उल्लेख है। उज्ज्वलदत्त ने एक आधा श्लोक राजशेखर के नाम से दिया है जिससे मान सकते हैं कि उसने कोई कोश भी बनाया हो।

१—इस सस्करण की भूमिका में राजशेखर विषयक बातें अच्छी तरह सगृहीत हैं। टामस की कवींद्रवचनसमुच्चय की भूमिका में भी हैं।

चारण जाति के मंगन मोतीसर[1] जब चारणों को बढ़ावा देते हैं तो उन्हें 'अबरी का केड' अर्थात् अबरी (यायावर) के वंशज कहते हैं। यायावर एक प्रकार के वानप्रस्थ ऋषि या ब्रह्मज्ञानी गृहस्थ होते थे जो सदा चलते ही रहते थे, उनका नियत स्थान न था। संभव है कि चारण उन्हीं यायावरों में से हों। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में कवियों के दस दर्जे गिनाए हैं। काव्य-विद्यास्नातक, हृदय-कवि, अन्यापदेशी, सेविता, घटमान, महाकवि, कविराज, आवेशिक, अविच्छेदी और संक्रामयिता। जो सब भाषा, सब प्रबंध और सब रसों में स्वतंत्र हो वह कविराज कहलाता है। राजशेखर कर्पूरमंजरी में अपने को कविराज कहता है।

इस राजशेखर की स्त्री अवंतिसुंदरी थी। वह चाहुआण (चौहान) कुल की थी। ब्राह्मणों की क्षत्रिय स्त्री होना कोई विरल बात नहीं है। एक ही ब्राह्मण की ब्राह्मण स्त्री से संतान ब्राह्मण और क्षत्रिय स्त्री की संतान के क्षत्रिय होने के कई प्रमाण हैं, जैसे राजा बाउक के लेख में प्रतीहारों की उत्पत्ति। कर्पूरमंजरी नाटिका का पहला अभिनय उसी की इच्छा से हुआ था[2]।

१—ना० प्र० पत्रिका, भाग १ अंक २ पृष्ठ १३३, टिप्पण ५२।

२—चाहुआणकुलमोलिमालिआ राअसेहरकइंदगेहिणी।
भत्तुणो कइमवंतिसुंदरी सा पउंजयिदुमेअमिच्छइ॥
[कर्पूरमंजरी १-११]

वह बड़ी विदुषो थी। काव्यमीमांसा में तीन जगह उसका मत पति ने उद्धृत किया है, जिससे मालूम होता है कि उसने काव्य-शास्त्र पर कोई ग्रंथ लिखा होगा।

(१) "कविता का 'पाक' क्या है? वामन के मतवाले कहते हैं कि कवि ऐसे पद बैठावे जो बदले न जा सकें, वही शब्दपाक है। इस पर अवंतिसुंदरी का मत है कि यह तो अशक्ति हुई, पाक नहीं। एक वस्तु पर महाकवियों के अनेक पाठ भी पाकवान् होते हैं, इसलिये रसोचित सूक्ति होना ही पाक है। उसने कहा भी है—गुण, अलंकार, रीति, उक्ति, शब्द, अर्थ इनके गाँठने का क्रम जैसे विद्वानों को अच्छा लगे, वही मेरे मत में वाक्यपाक है। कहनेवाला भी हो, अर्थ भी हो, शब्द भी हो, रस भी हो, तो भी कुछ और चीज बाकी रह जाती है जिसके बिना वाणी मधु नहीं टपकाती"। (पृष्ठ २०)

(२) "अर्थ चाहे रस के अनुगुण हो या विगुण, काव्य में कविवचन ही रस उपजाते या बिगाड़ते हैं, अर्थ नहीं।...पाल्यकीर्ति का मत है कि वस्तु का रूप कैसा ही हो, रसीलापन तो कहनेवाले के अधीन है। जिस अर्थ को रागी सराहेगा, उसी को विरागी धिक्कारेगा और मध्यस्थ उससे उदासीन रहेगा। ...अवंतिसुंदरी कहती है कि वस्तु के रूप का स्वभाव नियत नहीं है, वह तो विदग्ध के कहने के ढंग के अधीन है, उससे जाना जाता है। वह कहती है कि काव्य में उक्ति के वश से गुण या अगुण होते हैं, वस्तुस्वभाव कवि के किसी काम का नहीं, चंद्रमा को स्तुति करनेवाला उसे

'अमृतांशु' कहता है और धूर्त उसकी निंदा करता हुआ उसे 'दोषाकर' (रात करनेवाला, और दोष+आकर) कह डालता है"। (पृष्ठ ४५-४६)

(३) काव्य की चोरी पर राजशेखर ने बहुत लिखा है। अंत में सिद्धांत किया है कि 'न तो बनिये अचोर हो सकते हैं और न कवि अचोर, वही बिना बदनामी के गुलछर्रे उड़ाता है जो छिपाना जाने[1]।

इस विचार में पूर्वपक्ष किया है कि चोरी न सिखानी चाहिए, क्योंकि समय बीत जाने पर मनुष्य की और चोरियाँ हट जाती हैं, किंतु वाक्चौर्य पुत्र-पौत्रों तक भी नहीं हटता[2]।

इसपर अवंतिसुंदरी कहती है—'इस (दूसरे कवि) की प्रसिद्धि नहीं, मेरी है, इसकी प्रतिष्ठा नहीं, मेरी है; इसका संविधानक (प्लाट) अक्रम है, मेरा क्रमयुक्त है; इसके वचन गिलोय के जैसे, मेरे अंगूर के ऐसे; यह भाषा-विशेष का आदर नहीं करता, मैं करता हूँ, इसके (रचना के) जाननेवाले मर गए, इसका कर्त्ता देशांतर में है; यह बीती बात को बाँधने या अशुद्ध अथवा क्रोधयुक्त रचना पर अवलंबित है; इत्यादि कारणों से शब्द या अर्थ के चुराने में मन लगावे' (पृ० ५७)।

१—नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्य यो जानाति निगूहितुम्॥

२—पुंसः कालातिपातेन चौर्यमन्यद् विशीर्यति।
अपि पुत्रेषु पौत्रेषु वाक्चौर्यं न विशीर्यति॥

अवंतिसुंदरी ने प्राकृत कविता में आनेवाले 'देशी' शब्दों का एक कोश बनाया और उसमें प्रत्येक शब्द के प्रयोग के स्वरचित उदाहरण दिए। हेमचंद्र ने अपनी देशीनाममाला में दो जगह (१।८१, १।१२५) अवंतिसुंदरी के मतभेद का उल्लेख करके उसकी उदाहरण कविता उद्धृत की है।

(१) 'इंदमह'-हेमचंद्र का अर्थ-कँवारी का पुत्र; अवंति-सुंदरी का अर्थ-कुमार अवस्था, जैसा कि उसी ने उदाहरण दिया है[1]—

उवहसए पराणि इंदो इंदीवरच्छि एताहे।
इंदमहपेच्छिए तुह मुहस्स सोह णिअच्छंतो ॥[2]

(२) ओहुर=खिन्न (हेमचंद्र); झुका या लटका हुआ (अवंतिसुंदरी), जैसा कि उसी ने उदाहरण दिया है—

खणमित्तकलुसिआए छुलिआ लयवल्लरीसमोत्थरिअं।
भमरभरोहुरयं पङ्कयं व मरिमो मुंह तीए ॥[3]

१—यदुदाहरति स्म।

२—हँसी करता है, इंद्राणी को (की) इंद्र, हे कमलनयनी, अब, हे जवानी से भरी हुई, तेरे, मुख की, शोभा को, देखता हुआ।

३—क्षण मात्र में ही रूठी हुई (नायिका) का, बिखरे बालों की बेल से छिपा हुआ, भौंरों के बोझ से झुका हुआ, कमल सा, मानते हैं, मुख, उसका।

किं तं पि हु वीसरिअं णिक्कि व ज गुरुअणस्स मज्झम्मि ।
अहिधाविऊण गहिओ त ओहुरउत्तरीआए ॥[1]

ऐसी प्रौढ़ नायिका के पति के स्त्रीशिक्षा के विषय में क्या विचार होने चाहिएँ? "पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी कवि हों। संस्कार तो आत्मा में होता है, स्त्री या पुरुष के विभाग की अपेक्षा नहीं करता। राजाओं और मंत्रियों की बेटियाँ, वेश्याएँ, कौतुकियों की स्त्रियाँ, शास्त्रो में निष्णात बुद्धिवाली और कवि देखी और सुनी जाती हैं"। (काव्यमीमांसा, पृ० ५३)।

———

१—क्या, वह, भी, ही, भूल गया, निर्दय !, जो, गुरुजनों के, मध्य में, दौड़कर, पकड़ा था, तू, (मुझ) लटकते हुए दुपट्टेवाली ने !

चारण

ब्राह्मणों के पीछे राजपूतों की कीर्ति बखाननेवाले भाट और चारण हुए, जैसा कि एक छंद में कहा है—

'ब्राह्मण के मुख की कविता कछु भाट लई कछु चारण लीन्ही।'

यह जानना आवश्यक है कि चारणों की प्रधानता कब से हुई। कोई शिलालेख या ताम्रपत्र संस्कृत में, या पुराना, अब तक नहीं मिला है जिसमें चारणों या भाटों को भूमिदान का उल्लेख हो।

'सुभाषितहारावलि' नामक एक सुभाषित श्लोकों का संग्रह हरि कवि का किया हुआ है (पीटर्सन, दूसरी रिपोर्ट, पृष्ठ ५७-६४)। उसमें मुरारि कवि के नाम से यह श्लोक दिया हुआ है—

चर्चाभिश्चारणानां क्षितिरमण ! परां प्राप्य संमोदलीलां
मा कीर्तेः सौविदल्लानवगणय कविप्रात(?)वाणीविलासान्[1]।
गीतं ख्यातं न नाम्ना किमपि रघुपतेरद्य यावत्प्रसादा-
द्वाल्मीकेरेव धात्रीं धवलयति यशोमुद्रया रामभद्रः[2]।

१—यह पाठ अशुद्ध है। 'कविप्रोतवाणीविलासान्' या 'कवीन् प्राप्तवाणीविलासान्' हो सकता है।

२—बिल्हण के विक्रमांकदेवचरित में इसी भाव से मिलते हुए दो श्लोक हैं—

आशय—कोई राजा चारणों की कविता से प्रसन्न होकर संस्कृत कवियों का अनादर करने लगा। उसे कवि कहता है कि महीपाल! चारणों की चर्चाओं से बड़ा आनंद पाकर कवियों की रचनाओं का अनादर मत कीजिए, क्योंकि वे कीर्तिरूपी नायिका के रखवाले[1], या लाकर (राजाओं से) उसे मिलानेवाले हैं। देखिए, रामचंद्र का एक गीत या ख्यात नाम को भी नहीं है। वाल्मीकि ही की कृपा से आज तक रामभद्र अपने यश की छाप से पृथ्वी को अलंकृत कर रहे हैं। भाव यह है कि चारणों के (देशभाषा के) गीत और ख्यात अस्थायी हैं, कवियों के (संस्कृत) वाणीविलास सदा रहते हैं। राम का एक भी गीत या ख्यात नहीं मिलता। संसार में उनका जो यश है, वह वाल्मीकि की कृपा ही का फल है।

इस श्लोक मे चारण, गीत और ख्यात विशेष सांकेतिक या पारिभाषिक अर्थ में लिए गए हैं। चारण का अर्थ देवयोनि

(अ) लकापते सकुचित यशो यद् यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
स सर्व एवादिकवे. प्रभावो न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः॥ (१।२७)

(इ) हे राजानस्त्यजत सुकविप्रेमबधे विरोध
शुद्धा कीर्तिर्भवति भवता नूनमेतत्प्रसादात्।
तुष्टैर्बद्ध तदलघु रघुस्वामिनः सच्चरित्र
क्रुद्धैर्नीतस्त्रिभुवनजयी हास्यमार्गे दशास्यः॥ (१८।१०७)

१—मख कवि ने एक नाग नामक विद्वान् को साहित्यविद्या का सौविदल्ल कहा है (श्रीकंठचरित २५।६४)

का (सिद्ध, गंधर्व आदि का सा) यश-गायक नहीं हो सकता, क्योंकि उनका कवियों से मुकाबिला कैसा ? गीत और ख्यात साधारण गान या यश के काव्य नहीं हो सकते, पारिभाषिक (technical) गीतों और ख्यातों से ही अभिप्राय है। चारणों के रचित काव्य दो ही तरह के होते हैं, कवितावद्ध 'गीत' और गद्यवद्ध 'ख्यात'। राजपूताना में अब तक इसी अर्थ में 'गीत' और 'ख्यात' पदों का व्यवहार है, जैसे, मोटा राजा उदयसिंह रा गीत, राठौड़ां री ख्यात। [गीत और ख्यात पदों को गीति और ख्याति (आख्याति) संज्ञा-शब्दों का अपभ्रंश मानने की कोई जरूरत नहीं। ये कर्मवाच्य भूतकालिक धातुज विशेषण हैं जिनके आगे विशेष्य लुप्त हैं, जैसे चारणै: गीतं (यशः), चारणै: ख्यातं (वृत्तम्)। मारवाड़ी में इसी अर्थ में कह्योड़ो (कहा हुआ) भी आता है, जैसे बापजी गुणेशपुरीजी रो कह्योड़ो (पद, गीत वा दूहो)।]

मुरारि कवि प्रसिद्ध अनर्घराघव नाटक का कर्त्ता है। उसका पिता भट्ट श्रीवर्धमान, माता तंतुमती, गोत्र मौद्गल्य और उपनाम बाल-वाल्मीकि था। उसका समय आठवीं या नवीं शताब्दी ईसवी है। यदि यह श्लोक मुरारि का ही है तो उस समय भी चारणों के गीत और ख्यात प्रचलित थे, और उनकी संस्कृत के कवियों से प्रतिद्वंद्विता होने लग गई थी। इस श्लोक के मुरारिकृत मानने में संदेह करने के दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो इतने प्राचीन काल में चारणों के गीतों और ख्यातों का प्रचलित होना,

और दूसरे यह कि सुभाषितावलियो में श्लोकों के साथ जो कवियो के नाम दिए होते हैं, वे कहीं कहीं प्रामाणिक नहीं होते। कई श्लोक जो प्रसिद्ध कवियों के काव्यों में पाए जाते हैं, वे भी 'कस्यापि' के साथ या किसी भिन्न कवि के नाम से दिए हुए मिलते हैं।

——

चारणों और भाटों का झगड़ा

बारहट लक्खा का परवाना

तीर्थगुरु और पंडों की बहियों की खोज करने से बहुत सी इतिहास के काम की बातें मिल सकती हैं। उज्जैन में चारणों के कुलगुरु शक्तिदान जी[1] हैं। उनकी चौथी बही के ५८३वें पत्रे पर एक परवाना है। यह बारहट लक्खा का दानपत्र है। मारवाड़ के आउवा ग्राम के रहनेवाले आंगदोश बारहट मुरारीदान जी ने इस पट्टे की प्रतिलिपि मुझे ला कर दी, इसलिये मैं लेख के आरंभ में धन्यवादपूर्वक उनका स्मरण करता हूँ। नकल पर मुरारीदान जी ने लिखा है—

नकल परवाना कुलगुरु शकतीदांनजी रे चौपड़ा[2] ४ रे पाने ५८३ रे मु: उज्जैण।

परवाने के चारों कोनों पर चार गोल मुहरें हैं। प्रत्येक में यह इबारत है—

॥ श्री ॥ श्रीदोलीपत पातसाहजी श्री १०८ श्री अकबर साहजी वंदे दवागीर[3] बारट लषा।

१—[इनके घर मैं भी गया हूँ और दुर्गादास राठौड़ और कवि कलश के प्रसग वगैरह के पत्रों की नकलें लाया हूँ। दे०]

२—बही।

३—आशीर्वादक सेवक।

बारहट लक्खा के विषय में मुंशी देवीप्रसाद जी ने कृपा करके जो लिख भेजा है, वह यहाँ उद्धृत किया जाता है। टिप्पणियों में भी जो कुछ मुंशी जी की कृपा से प्राप्त हुआ है वह चौकोर ब्रैकेट [ ] में 'दे०' इस संकेत के साथ लिखा गया है।

[ये रोहडिया जाति के बारहट गाँव नानणपाई परगना साकड़े के रहनेवाले थे। बद्रीनाथ की यात्रा को गए थे, छींका टूट जाने से पहाड़ों के नीचे गिर पड़े। चोट ज्यादा नहीं लगी। पास ही पगडंडी थी जिस पर कुछ दूर चल कर एक जगह पहुँचे जहाँ चार धूनियाँ जग रही थीं जिनमें तीन पर तो तीन अतीत बैठे तापते थे, चौथी खाली थी। अतीतों ने लक्खा जी से पूछा कि कहाँ रहता है? यहाँ क्योंकर आया? इन्होंने कहा 'महाराज! दिल्ली मंडल में मेरा गाँव है, बद्रीनाथ जी की यात्रा को जाता था, छींका टूट पड़ा जिससे आपकी सेवा में उपस्थित हुआ। चौथे महात्मा कहाँ हैं, उनके भी दर्शन हो जावें तो वापिस चला जाऊँ।' उन्होंने कहा कि वह तो तेरी दिल्ली में राज करता है। लक्खा जी ने कहा कि महाराज, दिल्ली में तो अकबर बादशाह राज करता है। कहा, हाँ, वही अकबर इस चौथी धूनी का अतीत है, तू उससे मिलेगा? कहा, महाराज, वहाँ तक मुझे कौन जाने देगा? कहा, हम चिट्ठी लिख देंगे।

लक्खा जी उनकी चिट्ठी और कुछ भस्मी लेकर दिल्ली में आए। बादशाह की सवारी निकली तो दूर से वह चिट्ठी और राख की पोटली दिखाई। बादशाह ने पास बुलाकर हाल पूछा और वे

दोनों चीजें ले लीं। कहा कि हमारी धूनी में तेरा भी सीर (साझा) हो गया और उनको अपने पास रख लिया।

यह कथा जैसी सुनी, वैसी लिख दी है। मालूम नहीं कि यह सही थी या लक्खा जी ने बादशाह को हिंदुओं के धर्म की तरफ झुका हुआ देख कर वहाँ घुस-पैठ होने के वास्ते गढ़ ली थी।

कहते हैं कि बादशाह ने लक्खा जी को अंतरवेद में साढ़े तीन लाख रुपये की जागीर देकर मथुरा रहने को दी जहाँ लक्खा जी बड़े ठाठ से रहते थे। बादशाह की उन पर पूरी मेहरबानी थी। बादशाह ने उन्हे बरणपतसाह अर्थात् चारणों के बादशाह की पदवी भी दी थी जिसकी साख (प्रमाण) का यह दोहा है—

अकबर मुँह सूँ आखियो, रूडो कहै दोहूँ राह।
मैं पतसाह दुन्यानपत, लखा बरणपतसाह॥

यह भी कहते हैं कि एक बार जोधपुर के राजा उदयसिंह जी मथुरा में लक्खा से मिलने गए, पर लक्खा जी ने तीन दिन तक उनसे मुलाकात नहीं की, क्योंकि उन्होंने मारवाड़ के शासन-गाँव (चारणों को दिए हुए) जब्त कर लिए थे जिसके वास्ते बहुत से चारण आउवे में धरना देकर मर गए थे। चौथे रोज अपनी ठकुरानी (स्त्री) के यह कहने पर कि निदान तो आपके धणी (स्वामी) हैं, इनसे इतनी बेपरवाही नहीं करना चाहिए, वे राजा जी से मिले।

चारणों में लक्खा जी का बड़ा जस है, क्योंकि बादशाह की आशा करके जो कोई चारण दिल्ली आगरे में जाता था तो लक्खा जी किसी न किसी उपाय से उसको दरबार मे ले जाकर बादशाह

का मुजरा करा देते थे, जिससे उसकी मनशा पूरी हो जाती थी। इसी वास्ते ये लोग अब तक भी यह दोहा पढ़ पढ़ कर उनकी कीर्ति बढ़ाते हैं। यह आढ़ा जाति के चारण दुरसा जी का कहा हुआ सुना जाता है—

दिल्ली दरगह अम्ब फल, ऊँचा घणा अपार।
चारण लक्खो चारणाँ, डाल नवाँवणहार॥

अकबर बादशाह की तवारीख में तो लक्खा का नाम कहीं नहीं आता है, लेकिन गाँव टहले के बारहटों के पास, जो लक्खा जी की औलाद ह, कई पट्टे परवाने हैं, जिन्हें देखने से पाया जाता है कि लक्खा अकबर बादशाह के समय से जहाँगीर के समय तक विद्यमान थे। लक्खा जी के नाम का एक पट्टा सवत् १६५८ का और दूसरा संवत् १६७२ का है। पहले पट्टे में उनके बेटे नरहरदास का नाम भी है और दूसरे में दोनों बेटों नरहरदास और गिरिधर के नाम हैं।

पहला पट्टा राजा उदयसिंह के बेटे दलपतसिह का है जिसमें लक्खा और नरहरदास को गाँव धानणिया (धानणवा), परगने चौरासी, देना लिखा है। इसकी मिति मगसिर सुदि २ है और जब दलपत जी आगरे में थे, तब यह लिखा गया। परगना चौरासी जिसे अब परबतसर कहते हैं, बादशाह की तरफ से जागीर में होगा। दलपत जी के वश में रतलाम का राज्य है।

दूसरा पट्टा महाराज सूरसिंह और महाराजकुमार गजसिंह के नाम का है जिसमें लिखा है कि बारहट लक्खा, नरहर और गिरधर को तीन शासन गाँव दिए गए हैं—

१ रेंदड़ी, परगने सोजत, गाँव हाँथुड़ी के बदले

२ सोकलानड़ी, परगने जैतारण (वर्तमान नाम सीगलावस)

३ डचियाहेड़ा, परगने मेडता (वर्तमान नाम डचियार्डो ?)

लक्खा की संतान में लक्खावत बारहटों के कई ठिकाने मारवाड मे हैं जिनमे मुख्य गाँव टहला परगने मेड़ते में है। लक्खा जी की कविता भी है। उनके वेटे नरहरदास ने एक बड़ा ग्रंथ हिंदी भाषा में अवतार चरित्र नाम का बनाया है जो छप भा गया है। मारवाड़ में वही भागवत की जगह पढ़ा पढ़ाया जाता है। दे०]

परवाने की नकल आवश्यक टिप्पणियो के साथ यहाँ पर दी जाती है। परवाने का आशय यह है कि दिल्ली में बादशाह के सामने भाटों ने चारणो की निंदा की। इस पर लक्खा ने जैसलमेर के ग्राम जाजियाँ से कुलगुरु गंगाराम जी को बुलाया। उन्होंने चारणोत्पत्ति शिवरहस्य सुनाया जिससे भाट झूठे सिद्ध हुए। इस पर लक्खा ने उनका सत्कार किया और दिल्ली के "वणे ऊँचे अंबफलो को डाल नमावणहार" इन बारहट जी ने बावन हजार बीघा जमीन उज्जैन के परगने में दिलवाकर बादशाह को ओर से ताम्रपत्र करवा दिया। विवाह तथा दान के अवसरों पर सब चारणो से गुरु के वंश को नियत धन देते रहने का अनुरोध भी इस परवाने मे किया गया है। परवाने पर माघ शुक्ल ५, संवत् १६४२ की मिति है और पंचोली पन्नालाल के हस्ताक्षर हैं।

इससे जाना जाता है कि चारण भाटो का झगड़ा[1] अकबर के दरबार तक भी पहुँचा था और जाति-निर्णय पर व्यवस्थाएँ लेने की चाल रिज़्ले साहब की मर्दुमशुमारी से ही नहीं चली है।

परवाना

लीषावतां[2] बारटजी[3] ओलषोजी समसत[4] =

१—[चारण भाटों का झगड़ा बहुत पुराने है। दोनो एक दूसरे को बुरा कहते हैं। कुलमण्डण ग्रंथ चारणों की उत्पत्ति का बड़े नाम ब्रजलाल था और यह मारवाड़ कूला भी चारण जाति का नाम है। दे

२—(अमुक की) ओर से लिखा।

३—बारट = बारहट = द्वारहठ। राजपूतों के विवाह पर ये द्वार पर से ये पोलपात भी कहलाते हैं। [सरदारों में इनका डेरा भी पौल है। जोधपुर की फौज ने एक लगी थी। जब ठाकुर लड़ने हुआ कि पौल कौन खोले, निदान पोलपात चारण ने के नेग पाता हूँ। उसने पड़ा और वहीं मारा गया

४—समस्त (सब)

जात्रा[1] सीरदारां सू[2] श्रीजेमाताजी की [3] वाच ञ्यो अठे[4] तपत

१—'वीसोत्रा' चाहिए। [चारणों की एक सौ बीस जातें या गोत हैं इससे कुल चारणों की बिरादरी वीसोतर या वीसोत्रा कहलाती है। दे०]

२—राजपूताने में अब तक बिरादरी के समस्त लोग 'सरदार' कहकर संबोधित किए जाते हैं।

३—चारण शाक्त होते हैं। भगवती उनकी कुलदेवी है। आपस में वे 'जै माताजी की' कह कर नमस्कार करते हैं। भगवती ने एक अवतार चारण कुल में लिया था जिससे चारण उन्हें बुआजी या वाईजी भी कहते हैं। ये 'करणी' जी किसी सायात्रिक की तूफान से रक्षा करके गीले कपड़ों ही बीकानेर से एक स्टेशन इधर देशणोक (देशनोक) ग्राम में अपने मदिर में आईं इसी से वहाँ के कुओं का पानी अत्यत खारा है। करणी जी के मंदिर में चारणों और राजपूतों की बहुत मानता है। उस मंदिर में चूहे अमर हैं। सारा जगमोहन, निजमन्दिर और प्रतिमा तक चूहों से ढके रहते हैं। वे दर्शनियों के सिर, गले और टाँगों पर भी चढ़ जाते हैं। उन्हें बाजरा खिलाया जाता है। मारना तो दूर रहा, उन्हें झिड़कना भी महापाप है। कहते हैं कि जिससे चूहा मर जाय वह सोने का चूहा चढ़ावे तो देवी क्षमा करें। [ये चूहे काबा (लुटेरे) कहलाते हैं। 'करनीजीरा काबाओं' की मेंगनियों से सारा मंदिर गदा रहता है, दस पाँच चारण लट्ठियाँ लिए बिल्ली से उनको बचाने के लिये पहरे पर बैठे रहते हैं। बिल्ली आ जाय तो बहुधा मारी जाती है। पर कभी कभी कुछ काबों को ले भी जाती है। दे०] ४—यहाँ।

आगरा श्रीपातसाजी श्री १०८ श्री अकबर साहजी रा हजुरात[1] दरीषाना माहीं[2] भाट चारणां रा कुल री नंदीक[3] कीधी[4] जण[5] वषत समसत राजेसुर[6] हाजर था वां का[7] सेवागीर[8]

१—हुजूर में। २—दरबार में (राजपूताना में दरबारी मजलिस अभी तक दरीखाना कहलाती है)। ३—निंदा। ४—की। ५—जिस।

६—राज्येश्वर = राजा महाराजा। ७—उनके।

८—सेवक—यह शायद चारणों के लिये ही आया है। [चारण अपने को सेवागीर नहीं कहते। इसका अर्थ नौकर-चाकर भी हो सकता है। एक बार जोधपुर दरबार से कविराजा (महामहोपाध्याय) मुरारदान जी और मुंशी मुहम्मद मखदूमजी के नाम एक मिसल पर राय लिखने का हुक्म आया था। उसके जवाब में मुहम्मद मखदूम ने अर्जी लिखी, उसमें तावेदार का शब्द था। उसी तौर से कविराजा जी के नवीसदे पंचोली चतुरभुजजी ने भी 'तावेदार कविराज मुरारदान की अर्ज मालूम हो' लिखा, तो कविराजजी ने कहा कि तावेदार मत लिखो दवागीर (दुआगो, देखो नोट ३) लिखो। तब मैंने चतुर-भुजजी से कहा कि कविराजजी तो देवता बनते हैं और तुम तावेदार बनाते हो। इस पर कविराजजी ने हँसकर कहा, हाँ ठीक। उन्हीं दिनों कविराजजी ने चारणों की उत्पत्ति की एक पुस्तक बनाई थी जिसमें चारणों को देवता सिद्ध किया था, इसलिये मैंने मजाक में ऐसा कहा था। दे०]

वी[1] हाजर था जकां[2] सुण अर[3] मो सु[4] समचार कह्या जद[5] सब पंचां री सला सु[6] कुलगुरु गंगारांमजी प्रगणे[7] जेसलमेर गांव जाजीयां का जकाने[8] अरज लीष अठे[9] बुलाया गुर पधारया श्रीपातसाहजी नो रुबकारी मे चारण उत्पत्ती सास्त्र सिवरहस्य सुणायो पंडतां कबुल कीधो[10] जणपर[11] भाट कुटा पड्या गुरां चारण वंसरी पुषत राषी[12] नीवाजस[13] सारां[14] बुलासु[15] सीवाय[16] वंदगी कीधी ओर मारा बुता माफक हाती लाष पसाव[17] प्रथक[18] दीधो[19] गांव की अेवज[20] बावन हजार बीगा[21] जमी[22] ऊजेण के प्रगने दीधी जकणरो[23] तांबापत्र श्रीपातसाहजी का नांव को कराय दीधो अण[24] सवाय[25] आगा

१—भी। २—जिन्होंने। ३—सुन और = सुनकर। ४—मुझसे। ५—जब।

६—सलाह से। ७—परगने। ८—जिन्हें। ९—यहाँ। १०—स्वीकार किया। ११—जिसपर। १२—(बात) दृढ़ रक्खी।

१३—बखशिश। १४—सबने। १५—बिडते से। १६—बढकर। १७—[ब्राह्मणों का दान दक्षिणा कहलाता है और चारणों का दान लाखपसाव, कोडपसाव और अरबपसाव, जिसमें एक गाँव अवश्य होता है। दे०] पसाव = प्रसाद। हाती = हाथी। १८—पृथक् (अलग)। १९—दिया। २०—बदले में।

२१—बीघा। २२—जमीन। २३—जिसका। २४—इस (के)। २५—अतिरिक्त।

सु[1] चारण वरण समसत पचा कुलगुरु गंगाराम जी का बाप दादा ने व्याव[2] हुओ[3] जकण में[4] कुल[5] दापा[6] रा रुपीया १७॥) ओर त्याग[7] परट हुवे[8] जीण मा मोतीसरां[9] को नावो

१—आगे से। २—विवाह। ३—होवे। ४—जिसमें। ५—सपूर्ण। ६—दान, नेग।

७—विवाह के अवसर पर राजपूत जो बधाई की रकम चारणों को देते हैं उसे त्याग कहते हैं। चारण इसे बहुत लड झगडकर मांगते हैं। वाल्टरकृत राजपुत्रहितकारिणी सभा ने इसकी परमावधि और बाँटने के नियम बाँध दिए हैं। भाडियावास के आमिया चारण बुधदान ने त्याग कम करने या बद करनेवालों पर जलकर यह कविता कही है—

जासी त्याग जकारा घर सू जाता खाग न लागे जेझ।
धररो तोल न बाधो धणिय त्याग तणी किह बाधो तोल ?
जासी त्याग जकां का घर सू जाती धरती करै जुहार।
दीजै दोस किस् सिरदारा जमी जाणरा अक जरूर॥

अर्थात् जिनके घर से त्याग जावेगा उनके यहाँ से तलवार (खाग = खग्ग = खड्ग) जाते देर न लगेगी। स्वामियो! त्याग का हिसाब तो बाँधते हो, जमीन का हिसाब नहीं बाँधते? जिनके घर से त्याग जायगा उन्हें जाती हुई पृथ्वी भी सलाम करती है। सरदारो! दोष किसे दें? ये लक्षण तो अवश्य भूमि छिन जाने के हैं।

८—दिया जावे [फरद या सूची बने। दे०]

९—जैसे राजपूतों के यश गानेवाले और त्याग मांगनेवाले चारण होते हैं वैसे चारणों की याचक जाति मोतीसर नामक है।

वधे[1] जीण सु दुणो[2] नांवो कुलगुरु गगारामजी का वेटा पोता[3] पाया जासी संमत १६४२ रा मती माहा सूद ५ दसकत पंचोली[4]

१—नाम पर नियत हो। २—दुगुना।

३—ऊपर जो 'बाप दादा ने' आया है वह भी 'वेटा पोता ने' ही होना चाहिए। या यह अर्थ हो कि बाप-दादों को जो मिलता आया है वह तो वेटे पोतों को मिलता ही रहे और मोतीसरों से दूनी रकम दापे के रुपयों से अतिरिक्त मिला करे।

४—पचोली=पचकुली (देखो 'राज्ञा पचकुलमाकार्य', प्रबंध-चिंतामणि, बंबई की छपी, पृष्ठ १४०)। पचकुल=राजकर वसूल करनेवाला राजसेवक-समाज, उसका एक जन। अब साधारणत पचोली कायस्थ जाति के मुत्सद्दियों का उपनाम हो गया है और यहाँ भी यही अर्थ है किंतु वास्तव में जिसे पचकुल का अधिकार होता वही पचकुल या पचकुली या पचोली कहलाता। यह उपाधि ब्राह्मण, महाजन, गूजर आदि कई जातियों में मिलती है और दीवान, भंडारी, मेहता, नाणावटी आदि की तरह—जो ब्राह्मण, वैश्य, खत्री, कायस्थ, पारसी, जैन श्रावक (सरावगी) आदि सबमें कहीं न कहीं प्रचलित है—पद की सूचक है, न कि जाति की। कुछ पचोली (कायस्थ) पचाल (=पंजाब?) देश से आने से हमारी उपाधि पचोली है ऐसा कहते हैं जो असार है। [पचोली पचोल से बना है। मारवाड़ी बोली में पचोल पचायत (=पचकुल) को कहते हैं। गाँवों के झगड़ों को कानूनगो लोग, जो बहुत से कायस्थ ही होते और ओसवाल या सरावगी कम, पहले मिटा दिया करते थे।

पन्नालाल हुकम बारठ जी का सु लीषी तषत आगरा समसत पचांकी सलाह सू आपांणो[१] यां[२] गुरां सू अधीकता[३] दुजो नहीं छे[४] =

परतु कानूनगो का ओहदा जारी होने के पीछे कानूनगो कहलाने लगे। कायस्थ पचोली ही कहलाते रहे। पूरब में ब्राह्मण जो गाँव-वालों का काम करते हैं पचोरी कहलाते हैं। मारवाड में पचोली का उपनाम झामरिया जाति के माथुर कायस्थ खीमसी से चला है। ये राव चूडाजी के समय में दिल्ली की तरफ से रगट (परगने नागौर) के हाकिम होकर दिल्ली से आए थे। दे०]

१—अपना। २—इन। ३—अधिकतः, बढ़कर। ४—है।

सवाई

आमेर की गद्दी पर महाराज जयसिंह पहले को मुगल बादशाह से मिर्ज़ा (राजा) की उपाधि मिली थी और यह प्रसिद्ध है कि जयसिंह दूसरे को, जिन्होंने जयपुर बसाया, एक प्रसिद्ध वाक्पटुता पर औरंगजेब ने 'सवाई' उपाधि दी। तब से जयपुर के महाराजा सवाई कहलाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि फारसी लेखक प्रथम और द्वितीय जयसिंह में भेद करने के लिये द्वितीय के नाम को महाराजाधिराज जयसिंह—या धिराज (!) जयसिंह, जैसा कई तवारीखों में है—'सानी' लिखते थे। 'सानी' का लेखदोष से 'सवाई' हो गया जो बिना पूछेपाछे उपाधि बना लिया गया। इस कल्पना में द्वेष को छोड़कर कुछ सार नहीं। सवाई पद जयपुर के वंश से निकलनेवाले अलवर वंश ने तो लिया, किंतु और भी कई वंशों ने, यों ही था तो, क्यों धारण कर लिया? 'सवाई' पद इतना प्रिय हुआ कि संभाजी भी अपने को सवाई कहता था और पेशवा नारायणराव के पुत्र सवाई माधवराव पेशवा ने उसे नाम का अंग ही बना लिया।

शत्रुंजय पर्वत पर के जैन शिलालेखों में जहाँगीर बादशाह के नाम के साथ 'सवाई' उपाधि लगी मिलती है। यथा[1]—

---

[1]—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २ पृष्ठ ३४ प्रभृति।

(लेख न० १५) सं० १६७५ वैशाख सुदि १३ तिथौ शुक्र-वासरे सुरताण नूरदीन जहाँगीर सवाई विजयि राज्ये ॥...

(लेख न० १७) सं० १६७५ मिते सुरताण नूरदी जहाँगीर सवाई...विजयिराज्ये साहिजादा सुरताणखोसडू (=खुशरो) प्रवरे श्रीराजी नगरे (=अहमदाबाद) सोबइ (=सूबा) साहियान सुरतान षुरमे (=खुर्रम) वैशाखसित १३ शुक्रे...

(लेख न० १८) सवत् १६७५ प्रमिते सुरताण नूरदी जहागीर सवाई विजयिराज्ये साहिजादा सुरताण षोसरूप्रवरे राजनगरे सोबइ साहियान सुरतान षुरमे वैशाखसित १३ शुक्रे ।

(लेख न० १९) सवत् १६७५ मिते सुरताण नूरदी जहागीर सवाई विजयिराज्ये साहिजादा सुरताण षोसडू प्रवरे राजनगरे सोबइ साहियान सुरतान षुरमे वैशाखसित १३ शुक्रे ..

(लेख नं० २०) सवत् १६७५ प्रमिते ॥ सुरताण नूरदो जहागीर सवाई विजयिराज्ये साहिजादा सुरतान षोसरूप्रवरे श्रीराजनगरे सोबइ साहियान सुरतान पुरमे वैशाख सित १३ शुक्रे ।

(लेख न० २३) स० १६७५ वैशाख सित १३ शुक्रे सुरताण नूरदी जहांगीर सवाई विजयिराज्ये ॥ श्रीराजनगर .

(लेख न० २४) स० १६७५ वैशाख सित १३ शुक्रे सुरताण-नूरदो जहागीर सवाई विजयिराज्ये ॥ श्रीराजनगर ..

(लेख न० २७) भी जहांगीर के समय का है किंतु उसमें सवाई उपाधि नहीं है—

सं० १६८३ वर्ष। पातिसाह जिहांगीर श्रीसलेमसाह भूमंडलाखंडल विजय राज्ये॥

अस्तु, ये लेख एक ही संवत् और एक ही वंश के होने पर भी भिन्न भिन्न स्थलों पर हैं। सवाई एक हिंदुस्तानी उपाधि थी जिसका अर्थ पूर्ण से अधिक (सवा, सपाद, १ $\frac{1}{8}$) होता है। यह बहुत पहले से बादशाह जहाँगीर के नाम के साथ प्रामाणिक रूप से मिलती है, या फिर महाराज जयसिंह दूसरे के नाम के साथ।

जैनों के यहाँ प्रसिद्ध है कि हीरविजयसूरि के शिष्य विजयसेनसूरि को बादशाह अकबर ने 'सूरिसवाई' की उपाधि दी थी (सूरीश्वर अने सम्राट् पृ० १६२)

जोधपुर के राजा अजीतसिंह, जिनकी कन्या मुगल बादशाह फर्रुखसियर को ब्याही थी, उस समय के राज-कर्ता सैयद बंधुओं में से सैयद अबदुल्ला से मिलकर अपने जामाता के विरुद्ध लड़े। सैयद अबदुल्ला से ही उन्होंने महाराजा उपाधि पाई। अंत को वे रुष्ट होकर अपनी कन्या को नौकर चाकर और बहुत सी धन-दौलत के साथ हिंदू वेश में दिल्ली से अपने घर ले आए। तारीख इबराहीम खाँ में लिखा है कि किसी हिंदू राजा ने ऐसी गुस्ताखी नहीं की थी। बाबू राखालदास बनर्जी ने किसी फारसी इतिहास में देखा है कि अजीतसिंह की सवाई उपाधि पाने की इच्छा और उसके लिये परम उद्योग का फलीभूत न होना ही इस विद्रोह का कारण था। यह अंतिम वाक्य बनर्जी महाशय के कथन के प्रमाण पर ही लिखा गया है।

श्रीश्रीश्रीश्री

बीकानेर के महाराज अनूपसिंहजी, आमेर (जयपुर) के सवाई जयसिंह जी की तरह, अद्भुत पुरुष हुए हैं। उन्होंने सन् १६६९ से १६९८ ई० तक राज्य किया। औरंगजेब की ओर से उन्होंने दक्षिण में राजगढ़ के राजा को परास्त किया, सन् १६८७ में गोलकुंडा विजय किया और मद्रास हाते के बिलारी जिले के अडोनी स्थान में बादशाह के काम पर ही रहकर देह त्याग किया। यों चिर काल तक दक्षिण में रहकर उन्होंने विद्वानों से मित्रता की और संस्कृत ग्रथों का सग्रह किया।

बीकानेर के विशाल संस्कृत-पुस्तकालय
की पुष्पिका में लिखा हुआ है कि ना
यह पुस्तक महाराज अनूपसिंह जी की
उन्होंने इस अमूल्य पुस्तकालय की
संस्कृत के विद्वान् थे। कई पुस्तकों
पुस्तक महाराजकुमार अनूपसिंह
कि कुमारपद मे भी वे सस्कृत के

जिन पुस्तको पर उनका नाम
सहित लिखा है उनमें कहीं कहीं
है जो एक नई बात
(जिसका समर्

श्री लिखिए षट् गुरुन को स्वामि पंच रिपु चारि।
तीन मित्र द्वै भृत्य को एक पुत्र अरु नारि॥

इसका मूल वररुचि कृत पत्रकौमुदी का यह श्लोक कहा जाता है—

षट् गुरोः स्वामिनः पञ्च द्वे भृत्ये चतुरो रिपौ।
श्रीशब्दानां त्रयं मित्रे एकैक पुत्रभार्ययोः॥

यद्यपि पत्रकौमुदी वैयाकरण वररुचि (कात्यायन) की बनाई नहीं हो सकती तो भी अनूपसिंह जी के समय से तो प्राचीन ही है। फिर होनहार राजा के नाम के पहले 'श्री४' क्यों? यह कई पुस्तकों में है। जैसे 'खण्डप्रशस्ति' की प्रति में—

॥ पु० [पुस्तक] महाराजकुँवार श्री४ अनूपसिंह जी रो छै॥

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या राजपूताना मे महाराजकुमार के नाम के पहले 'श्री ४' लिखने की रीति के प्रमाण और भी कहीं हैं? हैं तो क्या उस समय 'रिपु चारि' वाला संकेत प्रचलित न था? तो क्या स्वामी की 'श्री ५' मे से महाराजकुमार को छोटा समझकर एक कम करने से ही चार की संख्या स्थिर की गई थी? अथवा यह कौटिल्य के अर्थशास्त्र के इस सिद्धात की गूँज है कि—

'कर्कटकसधर्माणो जनकभक्षः राजपुत्राः'?

(राजपुत्र केँकड़े की तरह पिता के खानेवाले होते हैं)। कौटिल्य ने राजपुत्रों की सम्हाल, उनसे बचने और उन्हे उपद्रव के लिये असमर्थ बनाए रखने के विषय में बहुत कुछ लिखा है।

———

राजाओं की चिट्ठियाँ

महाराष्ट्र राज्य के संस्थापक शिवाजी महाराज के विरुद्ध ज
मुगल सम्राट् औरंगजेब की तरफ से लड़ाई के वास्ते शाइस्ता ख
आया तब, ऐसा सुना जाता है कि, उसने यह श्लोक लिखक
शिवाजी के पास भेजा—

वानर ! त्वं वने शायी पर्वतस्ते सदाश्रयः ।
वज्रपाणिरहं साक्षात् शास्ता स्वयमुपागतः ॥

अर्थात् "हे वानर ! तुम वन में रहते हो और पर्व
ही तुम्हारा आश्रय है। पर्वतों के पक्षों को काट डालनेवा
साक्षात् वज्रपाणि इंद्र हो, शासन करनेवाला (शाइस्ता, शाइस्
खाँ) बनकर, मैं तुम पर चढ़ आया हूँ।" शिवाजी ने इस
जो उत्तर दिया उसका तात्पर्य यह है कि पर्वत में रहनेवाले औ
वन के आश्रित वानर हनूमान ने बालकपन ही में इंद्र को पराजि
किया था और इंद्र के दमन करनेवाले रावण को खूब ना
नचाया था। मुसलमानी सेनापति की ओर से संस्कृत श्लोक
लिखा जाना चमत्कारजनक है।

दिल्ली के मुगल बादशाहों के अंतिम काल में आम्बेर (जयपु
के महाराज सवाई जयसिंह अपने राज्य को बढ़ाते चले जाते
और मालवा की सूबेदारी भी करते थे। उस समय पेशव

राज्य के नायक बाजीराव ने उन्हे अन्योक्ति मे यह श्लोक लिख भेजा—

पीत्वा गजेन्त्यपस्ते दिशि दिशि जलदास्त्वं शरण्यो गिरीणा
सुत्रामत्रासभाजा, त्रिदशविटपिनां जन्मभूमिस्त्वमेव।
ऐश्वर्यं तच्च तादृक् त्वयि सलिलनिधे किन्तु विज्ञाप्यमेतत्
सर्वोपायेन मैत्रावरुणिमुनिकृपादृष्टय: प्रार्थनीया॥

"हे समुद्र! मेघ तुम्हारा ही जल पीकर सब कहीं गरजते हैं, इन्द्र स डरे हुए पर्वतों के शरण भी तुम्हीं हो, कल्पवृक्षों का जन्म भी तुम्हीं से है और ऐश्वर्य्य भी तुम्हारा वर्णन से बाहर है। परतु विज्ञापना इतनी ही है कि सभी उपायो से अगस्त्य मुनि (समुद्र को पी जानेवाले) की कृपादृष्टि की प्रार्थना करते रहना।"

इसका उत्तर यह गया—

क्षन्तव्यो द्विजजातितः परिभवोऽप्येतद्वचःपालनात्
पीत कुम्भसमुद्भवेन मुनिना कि जातमेतावता?
मर्यादा यदि लङ्घयेद्विधिवशात् तस्मिन् क्षणे वारिधि
स्त्रैलोक्य सचराचरं ग्रसति वै, कस्तत्र कुम्भोद्भवः॥

"समुद्र के द्वारा इस वचन के पालन किए जाने के कारण, कि ब्राह्मण से हार जाने पर भी उसे क्षमा ही करना पड़ता है, यदि घड़े से पैदा होनेवाले मुनि ने उसे पी लिया तो क्या हुआ? यदि समुद्र (प्रलयकाल की तरह) अपनी मर्यादा को उलांघ जाय तो

वह सारे संसार का ग्रास कर सकता है, बेचारे कुल्हिया से जन्मे हुए मुनि की क्या कथा ?”

यह रूखा उत्तर देकर भी उक्त महाराज ने, सुनते हैं, मालवा की सूबेदारी का पट्टा बादशाह से पेशवा के नाम लिखवा, सिप्रा में स्नान करके 'ब्राह्मण' पेशवा को मालवा का दान कर दिया ।

———

राव संसारचंद्र सेन बहादुर, एम० बी० ओ०, सी० आई० ई०, प्रधान मंत्री, जयपुर

बाबू संसारचंद्र सेन का जन्म बंगाल के चौबीस परगना के उच्च वैद्य-कुल में हुआ था। आप श्रीयुत नीलांबर सेन के ज्येष्ठ पुत्र थे। आगरा कालिज मे शिक्षा पाकर जयपुर महाराजा-कालेज में आप अध्यापक हुए। वहाँ से जयपुर के राजपूत-स्कूल के हेडमास्टर हुए। संयोग की बात है, वहाँ उनके छात्रों में जयपुर के वर्त्तमान महाराजा साहब बहादुर भी थे। इनके राज्य-सिंहासनारूढ़ होते ही बाबू साहब प्राइवेट सेक्रेटरी के प्रतिष्ठित पद पर नियत किए गए। फिर राव बहादुर बाबू कांतिचंद्र मुकर्जी सी० आई० ई० के स्वर्गवास के पीछे वे पहले तो कौंसिल के इलाके गैर के मेम्बर और पीछे प्रधान मंत्री किए गए। महाराजा साहब ने इन्हें ताजीम और पाँच हजार रुपये की पुश्तैनी जागीर प्रदान करके इनकी सेवाओ का पारितोषिक दिया है और अपनी गुणग्राहकता दिखाई है। दिल्ली-दरबार के अवसर पर ये राव बहादुर बनाए गए। जब प्रिंस आफ् वेल्स जयपुर पधारे थे तब उनने स्वयं इन्हें एम० बी० ओ० का तमगा दिया था। गत वर्ष इन्हें सी० आई० ई० की उपाधि मिली थी जिसका पदक राजपूताना के एजेंट गवर्नर जनरल ने स्वयं बाबू साहब के घर जाकर दिया

था। सौम्य स्वभाव और सुशील वृत्ति से बाबू साहब सर्वप्रिय हो गए थे। उनकी स्वामिभक्ति से उनके स्वामी अति प्रसन्न थे, उनके न्याय और सरल स्वभाव से प्रजा अति प्रसन्न थी और उनके सत्कार से उनके अतिथि अति प्रसन्न थे। इनका स्थान जयपुर में, और इनके भाई स्वर्गीय हेमचंद्र सेन का देहली में, प्रवासी बंगालियों का बड़ा भारी आश्रय था। जयपुर महाराज साहब की विलायत-यात्रा, दुर्भिक्ष और प्लेग का सुप्रबंध, युवराज का स्वागत, राजसेवा में शिक्षितों की अधिक नियुक्ति, कालिज में विज्ञान की उच्च शिक्षा का प्रबंध, डाकखाने का सुधार और सरकार से कन्वेन्शन् आदि इनके समय की मुख्य घटनाएँ हैं। ता० ११ मई को इस संसार-चंद्र का अस्त होने से जयपुर के आकाश में अंधकार छा गया।

———

मनीषि समर्थदान जी

राजपूताने के हिंदी-साहित्य-सेवियों में वृद्ध वसिष्ठ मनीषि समर्थदानजी प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा से इतना भागते थे कि मेरे सैकड़ों बार कहने पर भी उन्होंने जीवनी के नोट नहीं कराए। जब अंत की अचूक होनहार सूझ रही थी तब हम लोगों ने, अक्षरशः नहीं तो तत्त्वतः, उन्हे बिस्तरे से घसीटकर, उनके लाख विरोध करने पर भी, गत एप्रिल मास में, उनका फोटो उतरवा लिया था। यही आज इस लेख के साथ छापा जाता है।[१]

ये सिढायच चारण थे और शेखावाटी के सीकर राज्य के नेठवा ग्राम में इनका जन्म हुआ था। मृत्यु के समय इनकी अवस्था ५५-५६ वर्ष की होगी। इनके पिता का नाम मगलजी था। इनके बाल्य-जीवन का इतना ही हाल मालूम है कि एक मौलवी से इन्होंने उर्दू पढ़ी थी। उसकी योग्यता और सदाचार की ये बहुत प्रशंसा किया करते और उसकी शिक्षा और उदाहरण का इनके देशसेवामय जीवन पर जो प्रभाव पड़ा उसका गुण माना करते। युवावस्था में ये स्वामी दयानंद सरस्वतीजी के संग में आ गए। उस समय हिंदू नाम से बड़ी घृणा थी। "आर्य कहो, हिंदू मत कहो"—इस पर पुस्तिकाएँ लिखीं और शास्त्रार्थ किए जाते थे। ऐसे ही समय मे 'मुंशी' समर्थदानजी

१—खेद है कि यह फोटो यहाँ नहीं छापा जा सका है।— सं०

ने अपनी उपाधि 'मनीषि' कर ली। स्वामीजी के साथ ये कई वर्ष उनके 'वैदिक प्रेस' के प्रबंधकर्त्ता होकर बबई, प्रयाग, मुरादाबाद, अजमेर आदि स्थानो में रहे। वेदभाष्य के पहले संस्करणों के मुखपृष्ठों पर इनका नाम छपा हुआ है। इस अवसर में इन्हें संस्कृत और हिंदी का ज्ञान, धर्मसंस्कार, समाजसुधार और देश-सेवा के भाव मिले, जो उस नैतिक-धार्मिक आचार्य की निरंतर संगति का परिणाम माने जाने चाहिए। स्वामीजी के मरने के पीछे ये अजमेर में बस गए और एक सुदर स्थान में मकान बना कर इन्होंने राजस्थान-यंत्रालय और राजस्थान-समाचार नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। इस प्रांत में उच्च भावों का यह पहला ही पत्र था और कई बातों में एक ही पत्र रहा। धीरे धीरे इनका मान और प्रभाव बढ़ने लगा। जोधपुर के सर प्रतापसिंह, उदयपुर और बीकानेर के महाराज और अनेक जागीरदार इनका आदर करते और इनकी सम्मतियो पर ध्यान देते। चीफ कमिश्नर और एजेंट टू दी गवर्नर-जनरल मिलते और परामर्श लेते। महाराजा काश्मीर ने इन्हें अपना पोलपान (प्रतोली-पात्र=प्रधान दानाधिकारी चारण) बनाया और पैर में पहनने को सोना[१]

१—जैसे आजकल रजवाड़ों में (सोना) बख्शा जाता है, अर्थात् पैर में सोने का भूषण पहनने का अधिकार मिलता है, वैसे ही पुराने समय में सोने का जलपात्र (भृंगार=गड़ुआ) दिया जाता था। देखो, भास के प्रतिज्ञायौगंधरायण नाटक में—"गुणेषु न तु मे द्वेषो

(अर्थात् दरबार में ताजीम का चिह्न) दिया। जब मैं बाल्यावस्था में स्वर्गीय महामहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसादजी के यहाँ काव्यप्रकाश पढ़ने जाया करता तब पहले पहल मैंने उनके यहाँ राजस्थान-समाचार देखा। संस्कृत की धुन में एक दिन मैंने जब पत्र का नाम और मतवाक्य अनुष्टुप् की तरह मिलाकर पढ़ा ("राजस्थान-समाचार। सत्ये नास्ति भयं क्वचित्") तब चाचाजी (पं० दुर्गाप्रसादजी), जो मजाक और चोज की बातें करने में एक ही थे, बोले कि "पहला चरण तो संबोधन है—भो राजस्थान समाचार! और दूसरे का अर्थ है कि सत्येन अस्ति भयं क्वचित्! सावधान हो जाओ"। पंडितजी की इस आकस्मिक, पर उन्हें अविदित, भविष्यवाणी का प्रभाव अवश्य समर्थदानजी पर हुआ होगा क्योंकि उन्हें ऐसे लोगों से ही काम नहीं पड़ा जो सत्य सुनना न चाहते थे, पर ऐसे लोगों से भी जो ठकुरसुहाती सुनाने पर भी देने के नाम मुरलीमनोहर थे! मनीषिजी ने पत्र को अपने से पृथक् नहीं समझा, सैकड़ों उसमें कमाए और हजारों उसी में होम दिए। पत्र पहले साप्ताहिक था, फिर अर्द्धसाप्ताहिक हुआ। उन दिनों उसमें एक 'अनत कहानी' चलाई गई थी, जो जल्दी ही शांत हो गई। रूस-जापान के युद्ध की उमंग

भृङ्गारः प्रतिगृह्यताम्" (द्विवेद्रम संस्करण, पृ० ७२) और कामसूत्र की टीका जयमंगला (पं० दुर्गाप्रसादजी का संस्करण, पृष्ठ ४२) "भृ गारच्छत्रदानादि"।

में इन्होंने अपने पत्र को दैनिक कर दिया। सच पूछिए तो यही हिंदी का पहला व्यवसायी दैनिक था। भारतमित्र का पहला दैनिक रूप केवल परीक्षा के लिये था और कालेकाँकर का हिंदोस्तान, बड़ौदे की सोने-चाँदी की तोपों की तरह, एक राजा के शौक की चीज थी। मनीषिजी ने बंबई से तार-समाचार सीधे मँगवाने आरंभ किए। हिंदी-भाषा की अखबारनवीसी में और राजपूताने के पत्र-पाठकों में उस दिन हर्ष और विस्मय का विचित्र संकर हुआ जब ट्सुशीमा (Tsushima) के युद्ध का समाचार आबू पहाड़ पर पायनियर से आठ-दस घंटे पहले राजस्थान-समाचार ने पहुँचा दिया। आजकल जब इधर-उधर कई हिंदी दैनिकों के निकलने और बिखरने की गूँज हो रही है, इस गुपचुप काम करनेवाले वृद्ध साहित्यसेवी के अध्यवसाय का उल्लेख करना उचित है, चाहे उस समय ईर्ष्या से, या अपना ढोल आप न पीटनेवालों के साधारण भाग्य से, इस बात की चर्चा भी न हुई हो। यही दैनिक पत्र मनीषिजी के लिये श्वेत हस्ती बन गया, अथाह घाटे के कारण बंद करना पड़ा; कुछ दिन साप्ताहिक होकर सिसका; अंत को बुझ गया।

मनीषिजी ने बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित कीं और लिखीं। उनमें जयपुर राजपूत स्कूल के हेडमास्टर (पीछे कृष्णगढ़ राज्य के कौंसिल के मेंबर) रामनाथजी रत्नू का 'इतिहास राजस्थान' दूसरे संस्करण योग्य है। स्वामी गणेश पुरीजी का वीरविनोद (कर्णपर्व), श्रीयुत गणेशनारायण सोमानी का सर हेनरी काटन

की 'न्यू इंडिया' का अनुवाद, जमाल के दोहों का संग्रह, ठाकुर भूरसिंहजी का विविध संग्रह, आदि इनके यहाँ से अच्छे प्रकाशित हुए। पहले एक 'राजस्थान ग्रंथमाला' भी कुछ दिन चली थी। मरने के समय तक—जब न हाथों में बल था, न पास धन था, न सहायक थे—इन्हें लाख रुपए के व्यय से कई जिल्दों में हिंदुस्तान का विस्तृत इतिहास निकालने का करुणाजनक उत्साह था।

इनके जीवन-नाटक का अंतिम दृश्य निराशामय था। माता और पत्नी मर चुकी थीं, स्वास्थ्य जवाब दे चुका था, घर में केवल आठ वर्ष की एक अबोध कन्या थी। मुकद्दमे और ऋण के बादल इस हठी को अविश्रांत उमंग की ज्योति को बुझा रहे थे। पचास वर्ष की अवस्था में तीस वर्ष के कार्य्यभार से थके मस्तिष्क को संस्कृत के द्वारा शास्त्रीय वैद्यक के पढ़ने में लगाना इन्हीं की प्रतिभा का काम था। इन्होंने चरक, सुश्रुत पढा और वैद्यक से जीवन-निर्वाह का उपाय निकाला। चतुर वैद्य हो गए, पर दशा न सुधरी। वैद्यक की कमाई से अपने पैरों खड़े होने की आशा निष्फल हुई और खटिया पर पड़ गए। जुलाई के मध्यम सप्ताह में इनकी आत्मा, अपने उदार आदर्शों को तृणमात्र भी न छोड़ती हुई, क्षीण शरीर को छोड़ गई। घरबार, प्रेस, भूमि, ऋण, कन्या—सब अव्यवस्था में रह गया और रह गया इनके मित्रों को इनके कार्य्यों का स्मरण! राजनीति, समाजनीति को ये कैसा समझते थे और कैसी अच्छी सलाह देते थे! किस ऊसर भूमि में इन्होंने कितना पसीना बहा-

कर हल चलाया। इन्हें कितना उत्साह था और काम में उलझने की कितनी शक्ति थी। कैसे मसखरे थे। एक दिन कहने लगे कि जब हम आर्यसमाजी थे तब तो आग्रह से दोनों समय संध्या करते थे, पर जब से फिर सनातनधर्म में आए तब से तो कुछ करने की जरूरत ही नहीं रही। अपने आपको सनातनधर्मी कहना ही बहुत है। जिस लोक-ख्याति के पीछे ये हाथ जोड़े नहीं फिरे, उसने इनसे कैसा किनारा कसा।

इनका जीवनकार्य समाप्त हुआ। अब लोग इनके गुणों को छिपाने और दोषों को कुरेदने के लिये स्वतंत्र हैं। चाहे इन्होंने समुद्र पर लीकें डालने का यत्न किया हो, पर वीर वे ही नहीं हैं जिनके सिर पर सफलता का मुकुट चढ़ता है; वे भी वीर होते हैं जो झगड़ते झगड़ते मर और प्रतिकूल विधि के पादपीठ बन जाते हैं।

———

महामहोपाध्याय कविराजा मुरारिदान जी

इनका जन्म चारणकुल में, माघ वदि द्वितीया, संवत् १८८७ में, हुआ था। इनके पितामह प्रसिद्ध कवि बाँकीदानजी थे, जिन्हें जोधपुर के महाराजा मानसिंहजी ने कविराजा की पदवी दी थी। बाल्यावस्था में मुरारिदानजी ने अपने पिता भारतदानजी से भाषा-साहित्य का अध्ययन किया और संस्कृत यति ज्ञानचंद्रजी से पढ़ा। सोलह वर्ष की अवस्था में ये जोधपुर के महाराज तख्तसिंहजी के दरबार में उपस्थित हुए। तब से महाराज की सेवा में रहने लगे। संवत् १९२७ में ये जोधपुर-प्रांत के हाकिम हुए और पीछे, क्रमशः मेहता हरजीवनजी के सहयोगी मुसाहब, पचपदरे हाकिम, अदालत दीवानी के अफसर, अपील अदालत के जज, जनरल सुपरिंटेंडेंट, मजिस्ट्रेट आदि रहे। संवत् १९४३ से मृत्यु के थोड़े ही समय पहले तक लगातार कौंसिल के मेंबर रहे। इतिहास-कार्यालय के सभापति और मुसाहब आला सर प्रताप-सिंहजी के चीन की लाम में जाने पर राज्यकार्य चलानेवाली स्पेशल कमिटी के मेंबर भी रहे। कर्नल वाल्टर ने विवाह आदि का अपव्यय मिटाने के लिये जो 'राजपूत-हितकारिणी-सभा' बनाई थी उसके उत्साही आदि-संस्थापकों में ये थे और यावज्जीवन उसके उद्देश्यों की पूर्ति में लगे रहे।

महाराजा जसवंतसिंहजी के नाम पर इन्होंने "जसवतजसो-भूषण" नामक अपूर्व अलकार-ग्रंथ बनाया, जिसका सार "जसवत-भूषण" है और जिसका अनुवाद सस्कृत में भी छप चुका है। जैसे चित्रमीमांसा में अप्पय-दीक्षित ने सब अलंकारों को उपमा ही का भेद सिद्ध किया है वैसे इन्होंने अलंकारों के पृथक् लक्षण न बनाकर उनके नामों के शब्दार्थ से ही लक्षण किया है। प्राचीनों के मत का विवेचन करके शब्दार्थ ही में आनेवाले अलंकारों को उस अलकार की कोटि में गिना है। यद्यपि—"भोज समय निकसी नहीं भरतादिक की भूल। सो निकसी जसवंत समय"—की अप्रिय गर्वोक्ति की मोहर इस ग्रंथ पर है, तो भी अलंकार पर्यालोचना में यह ग्रंथ माननीय है। इसी पर प्रसन्न होकर महाराजा जसवंतसिंहजी ने इन्हें 'कविराजा' की उपाधि और "लाख पसाव" का दान दिया। लाख पसाव 'लक्ष प्रसाद' का अपभ्रंश है। इसमें हाथी, घोड़ा, स्वर्ण, भूमि आदि लाख रुपए की संपत्ति दी जाती है। चारणों के इतिहास में इस प्रसाद का बड़ा मान है।

इन्होंने एक सक्षिप्त 'चारण ख्याति' भी प्रकाशित की थी। इनके अपूर्ण और अप्रकाशित ग्रंथ ये हैं—बिहारी सतसई की टीका, सरदारप्रकाशिका, नायिका-भेद का एक ग्रथ, आत्मनिर्णय (वेदात) और बड़ी चारण ख्याति।

जोधपुर में कविराजा जी का मान सर्वोच्च श्रेणी के [illegible] के तुल्य था। राजपूताना भर में ये विद्या, परोपकार, दूरदर्शि[illegible]

(१) ज्ञानयोग—पहला खंड—स्वामी विवेकानंदजी के ज्ञान-योग संबंधी व्याख्यानों का संग्रह। (अप्राप्य)

(२) ज्ञानयोग—दूसरा खंड—अनुवादक, श्रीयुत बाबू जगन्मोहन वर्मा। स्वामी विवेकानंदजी के ज्ञानयोग संबंधी व्याख्यानों का संग्रह। पृष्ठ-संख्या ३२६ के लगभग। मूल्य २॥)

(३) करुणा—अनुवादक, श्री रामचंद्र वर्मा। प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता श्रीयुत राखालदास बंद्योपाध्याय के इसी नाम के ऐतिहासिक उपन्यास का अनुवाद। बढ़िया ऐंटिक कागज और रेशमी कपड़े की सुनहरी जिल्द। पृष्ठ संख्या सवा छः सौ के लगभग। मूल्य ३)

(४) शशांक—अनुवादक, श्री रामचंद्र शुक्ल। यह भी श्रीयुत राखालदास बंद्योपाध्याय का लिखा हुआ और करुणा की ही तरह परम मनोहर ऐतिहासिक उपन्यास है। मूल्य २)

(५) बुद्ध-चरित्र—लेखक, श्री रामचंद्र शुक्ल। भगवान् गौतम बुद्ध के चरित्र पर स्वतंत्रतापूर्वक ब्रजभाषा में लिखा हुआ अति मनोहर ललित काव्य। 'भूमिका' में ब्रज और अवधी भाषा का पांडित्यपूर्ण मार्मिक विवेचन। रंगीन और सादे चित्रों सहित। नया संस्करण। एक प्रति का मूल्य केवल २॥)

(६) मुद्रा शास्त्र—लेखक, डाक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार। हिंदी में मुद्रा-शास्त्र संबंधी यह पहला और अपूर्व ग्रंथ है। मुद्रा-शास्त्र

पर स्वामी की चेष्टाओं से जो अनेक हितों का साधन हो रहा है उसमें विघ्न पड़ जायगा।"

विद्या, यश, आयु और संतति में पूर्ण भाग्यवान् कविराजा जी का स्वर्गवास इस वर्ष (सं० १९७१), आषाढ़ सुदि पंचमी के दिन, हो गया। यह देश भर के लिये घाटा है।

(१) **ज्ञानयोग—पहला खंड**—स्वामी विवेकानंदजी के ज्ञानयोग संबंधी व्याख्यानों का संग्रह। (अप्राप्य)

(२) **ज्ञानयोग—दूसरा खंड**—अनुवादक, श्रीयुत बाबू जगन्मोहन वर्मा। स्वामी विवेकानंदजी के ज्ञानयोग-संबंधी व्याख्यानों का संग्रह। पृष्ठ-संख्या ३२६ के लगभग। मूल्य २॥)

(३) **करुणा**—अनुवादक, श्री रामचंद्र वर्मा। प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता श्रीयुत राखालदास बंद्योपाध्याय के इसी नाम के ऐतिहासिक उपन्यास का अनुवाद। बढ़िया ऐंटिक कागज और रेशमी कपड़े की सुनहरी जिल्द। पृष्ठ-संख्या सवा छः सौ के लगभग। मूल्य ३)

(४) **शशांक**—अनुवादक, श्री रामचंद्र शुक्ल। यह भी श्रीयुत राखालदास बंद्योपाध्याय का लिखा हुआ और करुणा की ही तरह परम मनोहर ऐतिहासिक उपन्यास है। मूल्य २)

(५) **बुद्ध-चरित्र**—लेखक, श्री रामचंद्र शुक्ल। भगवान् गौतम बुद्ध के चरित्र पर स्वतंत्रतापूर्वक व्रजभाषा में लिखा हुआ अति मनोहर ललित काव्य। 'भूमिका' मे व्रज और अवधी भाषा का पांडित्यपूर्ण मार्मिक विवेचन। रंगीन और सादे चित्रों सहित। नया संस्करण। एक प्रति का मूल्य केवल २॥)

(६) **मुद्रा शास्त्र**—लेखक, डाक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार। हिंदी में मुद्रा-शास्त्र संबंधी यह पहला और अपूर्व ग्रंथ है। मुद्रा-शास्त्र

के अनेक अँगरेज और अमेरिकन विद्वानो के अच्छे-अच्छे ग्रंथों का अध्ययन करके इसका प्रणयन किया गया है तथा मुद्रा-शास्त्र की सभी बाते इसमें बहुत अच्छे ढंग से बतलाई गई हैं। पृष्ठ-सख्या ३२५ के लगभग। मूल्य २)

(७) **अकबरी दरबार, तीन भाग**—अनुवादक, श्रीयुत रामचद्र वर्मा। उर्दू-फारसी आदि के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय शम्सुलउल्मा मौलाना मुहम्मदहुसेन साहब आजाद कृत 'दरबारे अकबरी' नामक ग्रंथ का यह अनुवाद है। उर्दू-साहित्य में इस ग्रंथ का महत्त्व बहुत अधिक है। इसमें बादशाह अकबर की पूरी जीवनी तथा तात्कालिक अवस्था का वर्णन बहुत विस्तार के साथ दिया गया है। साथ ही अकबर के अमीरों और दरबारियों आदि का भी इसमें पूरा पूरा वर्णन है। पृष्ठ-संख्या चार सौ से ऊपर। तीनों भागों का मूल्य क्रमश २॥), ३॥) तथा २)

(८) **पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास**—लेखक, श्रीयुत गुलाबराय एम० ए०। पाश्चात्य दर्शनों का यह महत्त्वपूर्ण इतिहास है। इसके पढ़ने से पूर्वीय दर्शनो और पश्चिमीय दर्शनो में क्या अतर है इसका स्पष्ट बोध होता है। प्राचीन यूनान से आरंभ करके अब तक समस्त यूरोप और अमेरिका में जितने बड़े-बड़े दार्शनिक हुए हैं, अथवा इस समय हैं, उन सबके मतों और सिद्धांतों का इसमें बहुत अच्छा विवेचन है। मूल्य २)

(९) **हिंदू राज्यतंत्र, पहला भाग**—अनुवादक, श्री रामचंद्र वर्मा। यह पुस्तक सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डाक्टर काशीप्रसाद जायस-

वाल बार-एट-ला की लिखी हुई 'हिंदू पॉलिटी' का अनुवाद है। इसमें यह प्रमाणित किया गया है कि आजकल का प्रजातंत्र भारतवर्ष के लिये कोई नया शासनतंत्र नहीं है, वल्कि बहुत प्राचीन वैदिक काल से ही यह हम भारतवासियो को ज्ञात था। पुस्तक प्रत्यक इतिहास-प्रेमी के पढने योग्य है। पृष्ठ-संख्या चार सौ से ऊपर। मूल्य ३॥)

[इसका दूसरा भाग सभा की 'नव-भारत ग्रंथमाला' में प्रकाशित हुआ है। पृष्ठ सख्या ४२२, मूल्य सादी २), सजिल्द २।)]

(१०) **कर्मवाद और जन्मांतर**—अनुवादक, श्री लल्लीप्रसाद पांडेय। इसके मूल-लेखक प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् बाबू हीरेंद्र-नाथ दत्त, एम० ए०, बी० एल्०, वेदांतरत्न हैं। इसमें लेखक ने भारतीय और पाश्चात्य सभी प्रामाणिक ग्रंथों से प्रमाण देकर हिंदू सिद्धांतों का प्रतिपादन 'थियासफी' के ढँग पर किया है। इसके पढ़ने से कर्म के संबध की बहुत सी बातें मालूम होगी और जन्मांतर होने के विलक्षण उदाहरण देखने को मिलेंगे। पृष्ठ-संख्या पौने चार सौ से ऊपर। मूल्य केवल २॥)

(११) **हिंदी-साहित्य का इतिहास** (संशोधित और प्रवर्द्धित सस्करण)—लेखक स्व० श्री रामचंद्र शुक्ल। हिंदी-साहित्य का यह सर्वोत्कृष्ट और विचार-शृंखला-बद्ध इतिहास है। पृष्ठ-संख्या लगभग ९००; मूल्य ५)

(१२) **हिंदी-रसगंगाधर** (दो भाग)—अनुवादक, श्री पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी। यह संस्कृत के उद्भट विद्वान् जगन्नाथ

पंडितराज के ग्रंथ का हिंदी रूपांतर है। अलंकार-संबंधी स्वतंत्र आलोचनाओं से भरा हुआ इतना पांडित्यपूर्ण ग्रंथ संस्कृत में इसके पश्चात् दूसरा नहीं बना। इसमें उदाहरण के मूल श्लोक तो हैं ही, उनका रूपांतर भी छंदोबद्ध ही है। प्रत्येक भाग का मूल्य ३॥)

(१३) **हिंदी की गद्य-शैली का विकास**—लेखक श्री जगन्नाथ-प्रसाद शर्मा एम० ए०। इस पुस्तक में हिंदी गद्य का विकास-क्रम दिखलाया गया है और आरंभ से लेकर अब तक के प्रायः सभी प्रधान गद्य-लेखकों के चित्र देकर उनकी शैली की मार्मिक समीक्षा की गई है। इसके भूमिका लेखक हैं स्व० श्री रामचंद्र शुक्ल। पृष्ठसंख्या २०० से ऊपर। मूल्य केवल २)।

(१४) **सोवियत् भूमि**—लेखक महापंडित राहुल सांकृत्यायन। सोवियत् रूस के संबंध में इतनी सर्वांगपूर्ण पुस्तक हिंदी में अब तक तो निकली ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं में भी कदाचित् ही हो। एक शब्द में वर्त्तमान रूस के संबंध में यह एक विश्व-कोश है। साथ ही इसमें अफगानिस्तान का भी अच्छा वर्णन है। पृष्ठसंख्या ८०० से ऊपर, चित्रसंख्या ११६ तथा मानचित्र २। मूल्य केवल ५)

(१५) **गुलेरी-ग्रंथ**—अमर-कृती स्व० श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी की समस्त कृतियों का संग्रह। यह तीन खंडों का होगा। पहले खंड का पहला भाग आपके हाथ में है। शेष भाग भी शीघ्र प्रकाशित होंगे।